स्वतन्त्रता-पूर्व
हिन्दी के संघर्ष का इतिहास

रामगोपाल

शक १८८६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
श्री गोपालचन्द्र सिंह
सचिव
प्रथम शासन-निकाय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रथम संस्करण ११००
मूल्य रु० ६.००

मुद्रक
श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

उन्नीसवीं शती के उस युग में, जब अँगरेज़ी सत्ता भारत भूमि पर अपने पैर जमा रही थी, क्षेत्रीय भाषाएँ फ़ारसी का स्थान अदालतों में ग्रहण कर रही थीं; किन्तु हिन्दी-भाषी उत्तर प्रदेश में फ़ारसी का स्थान हिन्दी को नहीं, बल्कि उर्दू को दिया गया, जबकि देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा अपनी सरलता, वैज्ञानिकता और लोकप्रियता के कारण उस समय ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। हिन्दी की इस विशिष्टता का पक्ष उस समय कई अँगरेज़ लेखक भी ले रहे थे। उन अँगरेज़ लेखकों के वक्तव्य एवं हिन्दी के प्रति व्यक्त किये गये उनके विचार हिन्दी के संघर्ष के प्रथम चरण माने जाते हैं।

किन्तु वह युग सामन्तवाद और साम्राज्यवाद का था। संभवत: इसी कारण से भारतीय जन प्रतिनिधियों द्वारा हिन्दी को राजभाषा बनाने का न तो कोई आन्दोलन आरम्भ किया गया और न संघर्ष ही। उर्दू के सामने हिन्दी का अपमान हिन्दी प्रेमी जनता चुपचाप सहन करती रही। सन् १८५७ की राजनैतिक क्रांति के पन्द्रह बीस वर्ष बाद जब अँगरेज़ी सत्ता की जड़ पूर्णतया सुदृढ़ हो गई, प्रजा की माँगों पर विचार किया जाने लगा, तब हिन्दी का प्रश्न उठाने का साहस किया गया। तब से अब तक हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए जो साहसपूर्ण संघर्ष किया गया है, उसी संघर्ष का यह सविवरण इतिहास है।

इस संघर्ष की कहानी में हिन्दी के निर्माता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का एक अप्रकाशित वक्तव्य भी प्रकाशित किया जा रहा है, जो लेखक की खोज का परिणाम है और सरकारी फाइलों से निकालकर सर्वप्रथम जनता के समक्ष प्रकट किया जा रहा है। यह वक्तव्य भारतेन्दुजी ने सन् १८८२ में सरकार द्वारा नियुक्त शिक्षा-आयोग के समक्ष दिया था, जो ग्रंथ के परिशिष्ट में हिन्दी-अनुवाद सहित दिया गया है।

इस ग्रंथ के लेखक अनुभवी पत्रकार एवं भारत के राजनैतिक इतिहास के अध्येता हैं। हिन्दी के संघर्ष का इतिहास इनके खोजपूर्ण प्रयासों का एक सुन्दर परिणाम है, जो युग की माँग के अनुकूल है, और जिसे प्रकाशित करने में सम्मेलन को स्वभावत: प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

—गोपालचन्द्र सिंह

विषय सूची

प्रस्तावना

मेरे अध्ययन, खोज और अनुसंधान का विशेष विषय राजनीतिक इतिहास रहा है। मेरी अधिकांश पुस्तकें भारतीय इतिहास के अंगरेजी काल पर हैं। जब मैं अपनी एक पुस्तक के लिए सामग्री की खोज कर रहा था, तब मुझे एक सरकारी प्रतिवेदन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का एक वृहत् 'वक्तव्य' देखने को मिला। सन् १८८२ ई० में भारत सरकार ने एक शिक्षा आयोग नियुक्त किया था, जिसके अध्यक्ष प्रसिद्ध इतिहासकार विलियम हण्टर थे। वह उस समय एक सरकारी अफसर थे। आयोग ने विभिन्न प्रान्तों में जाकर शिक्षा की स्थिति की जाँच की और उस समय के सार्वजनिक जीवन के गण्यमान्य व्यक्तियों तथा शासन के सम्बन्धित अफसरों की राय प्राप्त की। उसने एक प्रश्नावली भी प्रकाशित की, और जनता के उत्तर आमंत्रित किये। उत्तर प्रदेश (यह प्रदेश उस समय पश्चिमोत्तर प्रान्त कहलाता था) के जिन लोगों ने प्रश्नावली के उत्तर दिये उनमें भारतेन्दु भी थे। (प्रत्येक उत्तरावली को प्रतिवेदन में 'वक्तव्य' की संज्ञा दी गयी है।) यह सब वक्तव्य अंगरेजी में हैं। जब मैं प्रतिवेदन के पन्ने पलट रहा था, तब मेरी दृष्टि 'बाबू हरिश्चन्द्र'—यही शब्द शीर्षक में दिए हुए हैं—के नाम पर पड़ी। मेरे मन में असाधारण उत्सुकता पैदा हुई। एक तो भारतेन्दु के प्रति मेरी श्रद्धा अत्यधिक रही है, दूसरे यह 'वक्तव्य' अंगरेजी में था; इससे पहिले मैंने कभी उनका कोई अंगरेजी भाषा का लेख नहीं पढ़ा था। मैंने उसे आदि से अन्त तक पढ़ा। प्रतिवेदन में जितने वक्तव्य प्रकाशित हैं, उनमें शायद यह सबसे बड़ा है। इसमें उस समय की शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं का विस्तृत वर्णन है। भारतेन्दु के विचारों से हिन्दी के पाठक साधारणतया अनभिज्ञ नहीं हैं; परन्तु उनका यह 'वक्तव्य' पढ़ने के बाद मुझे लगा कि यही एक ऐसी कृति है, जिसमें उनके विचार एक स्थान पर विस्तार के साथ दिये हुए हैं।

मैंने उनकी कृतियों के संकलन तथा उनसे संबंधित साहित्य का पुनः अवलोकन किया; परन्तु किसी में मुझे यह 'वक्तव्य' नहीं मिला। इसलिए मैंने निश्चय किया कि प्रतिवेदन से वक्तव्य की नक़ल ले ली जाये और उसका हिन्दी अनुवाद

हिन्दी-जगत् के सामने प्रस्तुत किया जाये। यूँ तो भारतेन्दु द्वारा लिखित कोई चीज भी अमूल्य है, परन्तु इस वक्तव्य की विशेषता यह है कि इसको पढ़ने के बाद पाठक को लगता है, मानो उसमें आज की समस्याओं के उत्तर दिये गये हैं। इतिहास की दृष्टि से यह उत्तरावली उस समय के हिन्दी-संघर्ष के इतिहास के अति महत्त्वपूर्ण पृष्ठ हैं; अतः मैं उसका अनुवाद प्रस्तुत पुस्तक के साथ परिशिष्ट के रूप में दे रहा हूँ।

प्रस्तावना का प्रारम्भ परिशिष्ट के परिचय से करना परम्परा के विरुद्ध अवश्य लगता है, परन्तु मेरे लिए इस परम्परा से हटना एक नैतिक आवश्यकता हो गई, क्योंकि इस वक्तव्य से मुझे यह प्रेरणा मिली कि स्वाधीनता से पहले के सौ सवा सौ वर्षों में जो संघर्ष हिन्दी के लिए किया गया, उसका संक्षिप्त इतिहास तैयार किया जाये। फिर, यह तथ्य तो सूर्य की भांति प्रकाशित है कि उस समय के बहुत-से संघर्षकर्ताओं ने भी भारतेन्दु से प्रेरणा ली थी।

प्रस्तुत पुस्तक की कहानी जिस काल से आरम्भ होती है, वह भारतेन्दु से बहुत पहले का है। १९वीं सदी के तीसरे दशक में भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं ने फ़ारसी का—जो उस समय तक अदालतों की भाषा थी—स्थान लेना आरम्भ कर दिया था; पर उत्तर प्रदेश में फारसी का स्थान हिन्दी के बजाय उर्दू को दिया गया। इस घटना से पहले ही हिन्दी भाषा और नागरी लिपि की लोकप्रियता तथा उत्तमता का अंगरेज लेखकों तक ने पक्ष लेना आरम्भ कर दिया था। उन लेखकों की सम्मतियां हिन्दी के संघर्ष के प्रथम चरण माने जाते हैं। अपनी खोज के मध्य मुझे यह सम्मतियाँ जहाँ-तहाँ मिलीं और मैं उन्हें इस पुस्तक के लिए एकत्रित करता गया।

इन सम्मतियों को पढ़ने के बाद मन में यह विचार पैदा होना स्वाभाविक है कि हिन्दी को अदालती भाषा या राजकीय भाषा बनाने की माँग भारत के लोगों द्वारा उठनी चाहिए थी; उन्हें इसके लिए संघर्ष करना चाहिए था। इसका उत्तर कहीं नहीं मिलता। शायद कोई संघर्ष हुआ ही नहीं। वह युग घोर साम्राज्यवाद और घोर सामन्तवाद का युग था, जिसका प्रभाव चिरकाल तक रहा। परिणाम यह हुआ कि जनता ने भाषा के प्रति हुए अपमान को भी वैसे ही स्वीकार कर लिया जैसे पराधीनता को किया था। सन् १८५७ के १५-२० वर्ष बाद जब अंगरेजी सत्ता दृढ़ हो गई और शासकगण प्रजा की बात सुनना अपना कर्तव्य समझने लगे, तब हिन्दी का प्रश्न कुछ साहस के साथ उठाया जाने लगा। यही साहस-प्रदर्शन हिन्दी के संघर्ष का इतिहास है। अदालत की भाषा हिन्दी भाषा होनी चाहिए,

यह एक ऐसी माँग थी, जिसकी स्वीकृति से अंग्रेजी सत्ता को प्रत्यक्षतः कोई हानि नहीं पहुँच सकती थी। तो तर्क यह उठता है कि अंग्रेज सरकार ने इसको स्वीकार क्यों नहीं किया, या स्वीकार किया तो अंशतः ही क्यों किया।

सन् १८७३ में बिहार सरकार द्वारा यह माँग स्वीकार कर ली गई थी कि उस प्रान्त की अदालतों में फ़ारसी अक्षरों के बजाय नागरी का प्रयोग किया जाय, इस आदेश के कार्यान्वयन में लगभग ८ वर्ष लग गये। इसी प्रकार की माँग का उत्तर प्रदेश में कोई फल क्यों नहीं निकला ? इसका स्पष्ट उत्तर कहीं देखने को नहीं मिलता; अतः अप्रत्यक्ष उत्तर का सहारा लेना पड़ता है। १९ वीं शती के सातवें दशक के आरम्भ के वर्षों तक भारत के एक भाग में, जिसमें बंगाल और बिहार उल्लेखनीय हैं, वहाबी आन्दोलन का ज़ोर था। वहाबी फ़िरक़े के मुसलमान हिंसात्मक क्रांति द्वारा अंग्रेज़ी शासन का अन्त करके मुसलिम सत्ता पुनः जमाने के लिए क्रियाशील थे। बिहार के विषय में अंग्रेज़ों के मन में यह धारणा बन गई थी कि वहाँ का प्रत्येक मुसलमान बाग़ी है। इस तर्क से यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक लगता है कि वहाँ अंग्रेज़ी सरकार को यह अन्देशा नहीं था कि फ़ारसी अक्षर का स्थान नागरी को दे देने से मुसलमान क्रुद्ध हो जायेंगे; वे तो क्रुद्ध थे ही। यद्यपि उस समय मुसलमानों की ओर सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव करने की नीति का प्रारम्भ हो गया था, परन्तु फिर भी हिन्दुओं के प्रति सरकार अधिक उदारता बरतती थी और हिन्दी हिन्दुओं की भाषा मानी जाती थी।

उत्तर प्रदेश में स्थिति भिन्न थी। यहाँ वहाबी आन्दोलन का प्रभाव बहुत कम था। जब कि बंगाल और बिहार में मसलमानों को सरकारी नौकरी से यथा-सम्भव दूर रखा जाता था, उत्तर प्रदेश में मुसलमान जहाँ तहाँ सरकारी पदों पर नियुक्त थे; और वे उर्दू के माध्यम से अपना काम करते थे। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि क्या मुसलमानों की भावनाओं को कोई ठेस पहुँचाना नीतिसंगत होगा ? दूसरा कारण यह था कि वे हिन्दू लोग (प्रतिवेदनों के अनुसार विशेषकर कायस्थ लोग) जो अदालतों में काम करते हैं, अपने बच्चों को स्वभावतः उर्दू पढ़ाते हैं; अतः इस प्रदेश में हिन्दी तिरस्कृत रही, और जब लगातार के अनुरोध और संघर्ष के बाद सन् १९०० ई० में सरकार ने दायित्वपूर्ण कदम उठाया, तब भी हिन्दी तथा नागरी को वह पद नहीं मिला, जो बिहार में १८७३ में ही दे दिया गया था।

२० वीं शती में हिन्दी का संघर्ष राष्ट्रीय संघर्ष का एक अंग बन गया। १९वीं शती में माँग यह थी कि उत्तरी भारत के उन प्रान्तों में, जहाँ की भाषा हिन्दी है हिन्दी को अदालतों में मान्यता दी जाये। अब प्रश्न यह उठा कि हिन्दी भारत की

राष्ट्रीय भाषा है ; उसको वह स्थान प्राप्त होना चाहिए जो पराधीनता के कारण अंग्रेजी को मिल गया है। उन दिनों हिन्दी यह भिक्षा माँग रही थी कि केवल कचहरियों में उसे थोड़ा-सा संरक्षण मिल जाये ; अब वह अभिमान के साथ यह अधिकार चाहती थी कि उसे राष्ट्रीय भाषा का पद मिलना चाहिये। स्वतंत्रता के संघर्ष के साथ उसका संघर्ष जुड़ गया ; प्रत्यक्ष था कि यह पद उसे तभी प्राप्त होगा, जब भारत स्वतंत्र हो जायगा। इस संघर्ष का क्षेत्र व्यापक था ; इसका रूप भी भिन्न था। पहले हिन्दी का संघर्ष हिन्दी-भाषी प्रान्तों में चलाया जाता था; अब वह इन प्रान्तों की सीमा को लाँघ कर अहिन्दी प्रान्तों में चला गया। यह प्रयत्न था हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाने का। सुदूर दक्षिण में, जहाँ की भाषाएँ हिन्दी से बिल्कुल भिन्न हैं, हिन्दी के पठन-पाठन की व्यवस्था की गई। राष्ट्रीय आन्दोलन की भाँति इस आन्दोलन के भी नेता महात्मा गांधी थे।

इस प्रकार हिन्दी का संघर्ष चला और सन् १९५० में स्वतंत्र भारत के संविधान में उसे राष्ट्रीय भाषा का पद प्रदान किया गया। संघर्ष का तो कोई अन्त ही नहीं है। वह किसी न किसी रूप में उसके बाद भी चलता रहा। और अब भी चल रहा है। परन्तु संविधान बनने के बाद ही घटनायें इस पुस्तक की सीमा के बाहर की चीज़ है। स्वतंत्र भारत के संघर्ष उन संघर्षों से भिन्न हैं, जो पराधीनता के काल में हुए थे।

'शान्ति-सदन'
मोतीनगर,
लखनऊ

—रामगोपाल

अध्याय १

विदेशी भाषाओं का आगमन

जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति भाषा पर भी राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है। भारत के इतिहास में सन् १९४७ ई० से पूर्व लगभग एक हजार वर्ष का समय बाह्य आक्रमणों, राजनीतिक संघर्षों, सामाजिक परिवर्तनों तथा नये विचारों के प्रसार का काल है। इस काल में प्रत्येक पचास-सौ वर्ष बाद पुरानी मान्यताओं का स्थान नयी मान्यताएँ लेती गयीं; और बहुत कम लोगों को यह आभास हो पाया कि मनोवृत्तियाँ भी बदलती जा रही हैं। एक समय था जब देश के सभी शिक्षित और सभ्य वर्गों की लिखित भाषा संस्कृत था; वह देश की राजनीतिक तथा भौगोलिक एकता की माध्यम थी। फिर धीरे धीरे संस्कृत का स्थान उसकी अपभ्रंश भाषाओं तथा प्रान्तीय भाषाओं ने ले लिया। तत्पश्चात् मुस्लिम आक्रमणों के फलस्वरूप मुस्लिम सत्ता जमने के साथ साथ फारसी का बोलबाला होने लगा, और धीरे धीरे इस नयी भाषा ने संस्कृत को तथा अन्य भारतीय भाषाओं को, जिनमें हिन्दी को विशेष स्थान प्राप्त था, द्वितीय श्रेणी में धकेल दिया। हिन्दुओं के हृदय में संस्कृत का पूर्ववत् मान अवश्य रहा और बहुत से मुस्लिम शासकों ने भी उसे प्रोत्साहन दिया तथा उसके बृहत् ज्ञान कूप से मधुर जल-पान किया, किन्तु राजकाज में फारसी सिंहासनारूढ़ हो गई, यद्यपि अंशतः हिन्दी जारी रही।

कालचक्र की इन शतियों में भी हिन्दी का प्रचार (जिसका आधार आज खड़ी बोली है) भारत में जहाँ तहाँ था। अकाट्य प्रमाणों के साथ यह कहा जा सकता है कि चिरकाल से खड़ीबोली अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की माध्यम रही है, अर्थात् उस समय से जब संस्कृत तथा उसकी उत्तराधिकारी भाषाएँ माध्यम पद से हट चुकी थीं। हिन्दू धर्म के [illegible] तीर्थ हिन्दी भाषी क्षेत्र में स्थित हैं, और इसी क्षेत्र में अवतारों के जन्मस्थान हैं। अभिप्राय यह है कि भारत के विभिन्न भागों के लोगों का हिन्दी भाषी क्षेत्र से धार्मिक सम्बन्ध रहा है; हजारों नर नारी यहाँ लगातार आते रहे हैं। हिन्दुओं के [illegible] तीर्थ हरिद्वार की क्षेत्रीय बोली खड़ीबोली है, जो अयोध्या, मथुरा आदि तीर्थों की क्षेत्रीय बोलियों से कुछ भिन्न होते हुए भी वहाँ समझी जाती

थी और प्रचलित थी। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि अहिन्दी प्रान्तों के यात्री या पर्यटकगण खड़ी बोली को समझने की तथा बोलने की कोशिश अवश्य करते होंगे। मुसलमानी और अंग्रेजी साम्राज्य आये और गये, परन्तु इन यात्रियों और पर्यटकों के एक बड़े भाग की अन्तरप्रान्तीय भाषा फारसी या अंगरेजी नहीं बन पायी, बल्कि वे लोग टूटी-फूटी हिन्दी बोलकर ही सर्वदा अपना काम चलाते रहे। बहुत से अहिन्दी भाषी शिक्षित व्यक्ति तो हिन्दी भाषा के कुशल ज्ञाता होते थे; वे हिन्दी की धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करते थे, और अपने क्षेत्रों में इस भाषा का प्रचार भी करते थे।

धर्म-प्रेमी लोग क्षेत्रीयता को तुच्छ समझते थे। यदि उनको कृष्ण से भक्ति थी तो ब्रजभाषा से भी प्रेम था; यदि राम उनके आराध्य देव थे तो तुलसी की रामायण भी उनको प्रिय थी। उनका लगाव जन्मभूमि की भाषा के क्षेत्र तक सीमित न था। अहिन्दी प्रान्तों में बहुत से विद्वान् सन्त हो गए हैं जिन्होंने अपनी भक्ति-भावनाओं को पद्य में व्यक्त करने के लिए हिन्दी को अपनाया। दृष्टान्त के लिए महाराष्ट्र के महानुभाव पन्थ को ले लिया जाए, जो १२वीं शती में चला था। उसके कई सन्तों ने हिन्दी में पद्य रचना की। बाद में 'वारकरी' पंथ के नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ तुकाराम आदि सन्तों ने भी हिन्दी का उपयोग उसी उत्साह और भावना से किया। मराठी या गुजराती भाषाएँ हिन्दी से अधिक भिन्न भी नहीं हैं, नाथ पंथ जोगियों ने खड़ी बोली को राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल तक फैलाया। नाथों का समय ११वीं से १४वीं शती तक माना जाता है। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी का कहना है कि "एक हजार वर्ष पहले हिन्दी ही अपने पूर्वरूप में अन्तःप्रादेशिक भाषा के रूप में भारत में फैली थी।'

धर्म की भाँति अन्तरप्रान्तीय व्यापार ने भी हिन्दी को ही माध्यम बनाया। सुदूर दक्षिण तक व्यापारी लोग खड़ी बोली से परिचित थे। परन्तु प्राथमिक श्रेय धर्म को ही दिया जायेगा, क्योंकि सबसे पहले सम्पर्क का कारण धर्म ही बना। दिल्ली चिरकाल से राजनीति का केन्द्र रहा है। फलस्वरूप उसका संपूर्ण देश से राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध अनिवार्य है; और दिल्ली की बोलचाल की भाषा न जाने कब से खड़ी बोली चली आ रही है। यमुना तट पर बसा हुआ यह नगर ब्रज भाषा के क्षेत्र के बाहर है। आज भी दिल्ली में बसे हुए अन्य प्रान्तों के लोगों की एक-बड़ी संख्या ऐसी है जिसने अंग्रेजी के बजाय हिन्दी को अपनाया है। और इसी बोली को लेकर वे अपने प्रान्तों में वापस जाते हैं। यह परम्परा अंग्रेजी भाषा के भारत आने से पहले थी; फारसी से भी पहले, थी क्योंकि इन दोनों विदेशी भाषाओं के ज्ञान से

जो संपर्क पैदा होता था वह सीमित था, उसके द्वारा उन अनेक व्यक्तियों से व्यवहार सम्भव नहीं था जो अशिक्षित थे।

भारत में खड़ी बोली या हिन्दी की कुछ इस प्रकार की स्थिति थी जब विदेशी मुसलमानों का भारत से राजनीतिक सम्पर्क स्थापित हुआ। ईसा की आठवीं शती में जब मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध विजय किया तो वहाँ राजकाज का हिसाब-किताब हिन्दी में रखा जाता था। उसने इस परम्परा को जारी रखा। कोई भी विदेशी शासक अपनी बोली को विजित देश पर सहसा नहीं लाद सकता; ऐसा करना अव्यावहारिक और असंभव है। मुसलमान शासकों को उस परम्परा को कायम रखना पड़ा जिसके अन्तर्गत संस्कृत का पठन-पाठन चिरकाल से चला आ रहा था और हिन्दी का जहाँ-तहाँ प्रचार था। मुस्लिम काल की प्रारम्भिक शतियों का एक उदाहरण यह है—व्यवहार कुशलता की दृष्टि से कश्मीर के शासक जैनल-आब दीन ने, जो १४२० ई० में गद्दी पर बैठे, फारसी के साथ साथ हिन्दी और तिब्बती भाषा का ज्ञान भी प्राप्त किया; तिब्बत काश्मीर का पड़ोसी देश था, और हिन्दी सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रभाषा के रूप में बोली और समझी जाती थी। उसने फारसी और अरबी की कई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद भी करवाया।

मुगलकाल तक सरकारी दफ्तरों के काम का एक अंश हिन्दी के माध्यम से संचालित होता रहा। हिन्दी के बिना काम चल नहीं सकता था, क्योंकि शासकों की भाषा से जन-साधारण परिचित नहीं था। शाहजहाँ ने जनसम्पर्क के लिए हिन्दी में बोलना सीखा।

मुसलमानों की सत्ता भलीभाँति जम जाने के समय से ही यह धारणा अपनायी जाने लगी कि शासकों तथा उनके कर्मचारियों व फौजों को उस भाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो देश में सर्वत्र प्रचलित है। अलाउद्दीन खिलजी ने, जिसका शासनकाल १२९६ में आरम्भ हुआ, हिन्दी का प्रचार एक बड़ेपैमाने पर किया। उसकी आज्ञा से खुसरों ने 'खालिकबारी' पुस्तक तैयार की, जिसमें खड़ी बोली पंजाबी तथा ब्रजभाषा के शब्दों के फारसी तथा अरबी पर्याय संकलित किये गये। इस पुस्तक की असंख्य प्रतियाँ तैयार करवाकर नगरों और ग्रामों में वितरित की गयी। भाषा के विषय में ऐसा वृहद् प्रचार शायद पहले कभी नहीं हुआ। कहावत प्रसिद्ध है—"एक लाख ऊँट सवा लाख गारी। तिस पर लादी खालिकबारी।" अलाउद्दीन की दक्षिण विजय के साथ ('खालिकबारी' अर्थात् हिन्दी दक्षिण भारत में गयी, और तबसे उसका प्रचार वहाँ बढ़ता गया।

हिन्दी-प्रचार के इस काल में विशुद्ध हिन्दी की ओर झुकाव था, न कि भाषा को फारसी शब्दों से लादने की ओर। खुसरो, जायसी, रहीम, रसखान आदि मुसलमान कवियों की हिन्दी पद्य रचना से यह तथ्य स्वयंसिद्ध है। उस समय की लिखित भाषा में फारसी शब्दों का यत्र-तत्र पाया जाना एक अलग बात है। दो जातियों के घनिष्ठ सम्पर्क से एक दूसरे की भाषा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है ; आदि कवि चन्द तक के काव्य में फारसी शब्द आ गये हैं ; और तुलसी दास की रामायण में भी।

परन्तु किसी भाषा में साहित्य सृजन करने की मान्यताएँ उस रिवाज और व्यवहार से भिन्न होती हैं जिसके फलस्वरूप दो जातियों के लोग एक दूसरे के संपर्क में आने पर एक ऐसी बोली बोलने लगते हैं जिसमें दोनों की भाषाओं के शब्द बेरोक-टोक ले लिए जाते हैं। इन लोगों के सामने यह सिद्धान्त-बंधन नहीं होता कि वे यथासंभव एक ही भाषा के शब्दों का प्रयोग विशुद्ध रूप से करें। इसके विपरीत यदि किसी फारसी ज्ञाता को हिन्दी में लिखने का चाव पैदा होता है तोउसका यह कर्त्तव्य होगा कि पहले वह हिन्दी का समुचित ज्ञान प्राप्त करे।

गार्सा द तासी, ने 'हिन्दुई' के इतिहास में लिखा है—"वाकअः यह है कि मुसलमान बादशाह हमेश. एक हिन्दी सिकरेटरी जो हिन्दी नवीस कहलाता था और एक फारसी सिकरेटरी जिसको फारसी नवीस कहते थे, रखा करते थे ताकि उनके एहकाम इन दोनो जबानों में लिखे जायें।"[१]

बहुत से मुसलमान शासकों के सिक्कों पर हिन्दी अक्षरों में भी मूल्य खुदवाया जाता था। मस्लिम साम्राज्य के हिन्दू कर्मचारियों ने सिकन्दर लोदी के शासनकाल (ईसा की १६वीं शती के आरम्भ में) फारसी सीखना आरम्भ किया, परन्तु, क्योंकि हिन्दी में लिखने का रिवाज था, इसलिए राज्य के हिन्दू कर्मचारियों के लिए फारसी सीखना अनिवार्य नहीं था। वास्तव में जिस अधिकारी ने अकबर के शासनकाल में हिसाब-किताब तथा पत्र-व्यवहार के लिए हिन्दी के बजाय फारसी का प्रयोग करने का आदेश दिया वह था अकबर का हिन्दू वित्त मंत्री टोडरमल। इसका परिणाम यह हुआ कि सब हिन्दू कर्मचारियों को फारसी का ज्ञान प्राप्त करना पड़ा।[२]

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सन् १८९८, पृ० १८।

२. S. Abid Husain—*The National Culture of India*, Pp. 103-4

जिस मिली-जुली बोली का जिक्र ऊपर किया गया है उसके प्रादुर्भाव का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। अशिक्षित मुस्लिम सिपाहियों तथा अन्य व्यक्तियों का भारत की जनता के संपर्क में आना अनिवार्य था; अतः उन्हें इस देश की बोलचाल की भाषाएँ सीखनी पड़ीं। यहाँ हमारा अभिप्राय केवल उर्दू तथा हिन्दी से है; इसलिए केवल उत्तरी भारत की तात्कालिक घटनाएँ इस विषय के लिए प्रासंगिक होंगी। सैनिकों का संपर्क, चाहे वे देश के हों या बाहर के आक्रमणकारी हों, जनता के अन्य लोगों की अपेक्षा व्यापारियों अर्थात् बाजार-हाट से अधिक होता है। यदि वे विदेशी हैं तो पहले संकेत द्वारा अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदते हैं, और फिर धीरे धीरे व्यापारियों से देश की काम-चलाऊ बोली सीख लेते हैं; अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में इस प्रक्रिया को एक विधि का रूप दे दिया गया। दिल्ली के राजमहल के बाहर एक उर्दू-ए-मुअल्ला अर्थात् शाही फौजी बाजार था। उसमें बातचीत के माध्यम की भाषा खड़ी बोली थी, परन्तु उसमें और सामान्य भाषा में अन्तर यह था कि इनके वाक्यों की लड़ी में जहाँ-तहाँ फारसी तथा अरबी शब्द पिरोये रहते थे। कारण स्पष्ट है। जिन सैनिकों का इस बाजार से सम्बन्ध था उनकी मातृ-भाषा फारसी थी; इसलिए उनके वाक्यों में कही कहीं फारसी शब्दों का आ जाना स्वाभाविक था।

वहाँ के भारतीय लोगों को यह भाषा कुछ अद्भुत बल्कि हास्यास्पद लगती होगी। परन्तु वर्षों के प्रचलन से जब कान अभ्यस्त हो जाते हैं तब अद्भुतता का तत्व समाप्त हो जाता है। यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया इस मिश्रित बोली के विषय में भी हुई, और यह उर्दू अर्थात् रिसाले की भाषा कहलाने लगी। वास्तव में यह भाषा हिन्दी थी, परन्तु इसकी वह शैली जिसमें फारसी शब्दों का बाहुल्य होता था उर्दू कहलाती थी। इस प्रयत्न से खड़ी बोली का विशाल प्रसार हुआ। सैकड़ों वर्ष तक उर्दू केवल बोलचाल की भाषा रही। धीरे धीरे इसमें साहित्य सृजन किया जाने लगा और यह एक अलग भाषा बन गयी; फारसी के विद्वान् तक इसमें कविता करने लगे।

उर्दू की उत्पत्ति, विकास और प्रसार का सम्बन्ध प्रस्तुत विषय से केवल इतना है कि उसके कारण हिन्दी के विकास और प्रसार में कितनी बाधा पड़ी। जो खड़ी बोली आधुनिक हिन्दी की भाँति उर्दू का आधार है और जिसे फारसी तथा अरबी शब्दों की सहायता से भाषा का रूप उसी भाँति दिया गया है जैसे हिन्दी को संस्कृत के शब्दों की सहायता से, वह दिल्ली, मेरठ, रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मुजफ्फर-नगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अंबाला, कलसिया और पटियाला के

पूर्वी भाग के क्षेत्रों में मातृभाषा के रूप में बोली जाती थी। उस समय खड़ी बोली की इन दो शैलियों में शायद पारस्परिक ईर्ष्या नहीं थी; कम से कम उस सीमा तक नहीं थी जितनी ईसा की उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रदर्शित हुई। इसका कारण यह था कि अन्य देशों की भांति उत्तरी भारत के हिन्दी-भाषी क्षेत्र में बाहरी मुसलमानों का राज्य था जिन्होंने फ़ारसी को राजभाषा बनाया। धीरे धीरे उर्दू को भी प्रोत्साहन मिलने लगा। उर्दू के शायरों (कवियों) का, जो लगभग पूर्णतया मुसलमान थे, शाही दरबारों से साहित्यिक सम्बन्ध था, और उनसे उन्हें आर्थिक सहायता मिलती थी। कुछ मुसलमान विद्वानों ने हिन्दी को भी अपनी काव्य-कृतियों का माध्यम बनाया, परन्तु सामान्यतः हिन्दी सरकारी सहायता से वंचित रही। पेशवा राज में हिन्दी का प्रचार अवश्य जारी रहा। जब औरंगजेब की मृत्यु के बाद धीरे धीरे मुगलों का भारतीयकरण हो गया तब उर्दू का प्रचार बढ़ने लगा ; तब फारसी के बजाय यही भाषा कहीं कहीं राज-भाषा के रूप में अपनायी जाने लगी। स्वभावतः राज भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक वेग से फलती-फूलती है।

हिन्दी का विकास पूर्णतया हिन्दी-भाषी विद्वानों के चाव पर निर्भर था, परन्तु रिवाज के अनुसार यह चाव पद्य-रचना में व्यक्त किया जाता था। उन्नीसवीं शती के प्रवेश करने पर एक अद्भुत दृश्य दिखलाई देता है; एक ओर हिन्दी-पद्य का कुबेर कोष है, और दूसरी ओर हिन्दी गद्य की निर्धन झोपड़ी।

इस शती के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजी सत्ता सुव्यवस्थित हो रही थी, और भारत के विभिन्न प्रदेश उसके अधीन होते जा रहे थे। प्लासी (सन् १७५७) के छल, कपट तथा विश्वासघात के बाद अंग्रेजों का सर्वप्रथम राजनीतिक आधिपत्य बंगाल पर हुआ जिसमें उस समय बिहार और उड़ीसा भी सम्मिलित थे। नवाबी काल में इन राज्यों की राजभाषा फारसी थी, और द्वितीय या देशी भाषा के रूप में हिन्दी (नागरी) का प्रचार था। यही स्थिति उत्तर प्रदेश में थी, जिसका एक भाग प्लाशी के कुछ वर्षों बाद अंग्रेज़ी आधिपत्य में आ गया। अंग्रेजों ने मुसलमान शासकों की भाषा सम्बन्धी नीति को अपनाया। अदालती भाषा फारसी रही, परन्तु द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग जारी रहा। राजकीय आदेश, सूचनाएँ तथा अन्य सार्वजनिक पत्र फारसी में लिखे जाते थे, और नीचे उसका हिन्दी अनुवाद दे दिया जाता था। आज के मापदंड से उस भाषा को शुद्ध हिन्दी तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु वह नागरी अक्षरों में लिखी जाती थी, और क्योंकि उस समय सरकारी काम चलता होता था, इसलिए उस भाषा को हिन्दी मानना पड़ेगा। उदाहरणार्थ

सन १८०३ ई० के आईन ३१ में कहा गया है—"हरी एक जिले के कलीक्टर साहेब को लाजीम है इस आईन के पावने पर एक केता इस्तहारनामा निचे के सरह से फारसी बो नागरी व अच्छर कि भाषा में लिखाये के अपने मोहर वो दस्तखत से अपने जिलाके......कचहरी में भी तमामी आदमी के बुझने के वास्ते लटकावही।"[1]

परन्तु फारसी के जारी रहने से उसका प्रभाव भविष्य की भाषा-नीति पर पड़ना स्वाभाविक था, अर्थात् जब कभी फारसी का स्थान जन भाषा या भाषाओं को दिया जायगा तब हिन्दी भाषी क्षेत्र में वह स्थान उर्दू को मिलेगा, क्योंकि फारसी-ज्ञाता सरकारी अफसरों, अहलमदों, आदि के लिए उर्दू अपनाना आसान था; वे फारसी लिपि में लिखते थे जो उर्दू की भी लिपि थी; उन्हें नागरी लिपि का ज्ञान या तो विल्कुल नहीं था या बहुत कम था। यही हुआ। उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में उर्दू का रिवाज सरकारी स्तर पर बढ़ने लगा।

इस समय दो नयी विचारधाराओं का उदय हुआ। एक यह थी कि संस्कृत की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय; और दूसरी यह कि अंग्रेजी तथा अंग्रेजी ढंग की शिक्षा का प्रचार किया जाय। अंग्रेजी शासकों (अर्थात् ईस्ट इंडिया कम्पनी) का ध्यान जिस तथ्य की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ वह यह था कि उनके भारतीय साम्राज्य में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही बसते हैं; दोनों के अग्रणी व्यक्तियों को संतुष्ट रखना चाहिए। उन्होंने मुसलमानों के लिए तो कलकत्ता में (सन् १७८१ में) मदरसा स्थापित कर दिया था, परन्तु हिन्दुओं के लिए कोई ऐसी संस्था नहीं बनायी थी। वे जानते थे कि जैसे मुसलमानों में फारसी और अरबी के लिए श्रद्धा और प्रेम है वैसे ही हिन्दुओं में संस्कृत के लिए है। अतः लगभग दस वर्ष बाद उन्होंने वाराणसी में एक संस्कृत कालेज की स्थापना की।

किसी सरकार का शिक्षा के प्रति दायित्व केवल दो संस्थाएँ खोल देने से तो पूरा हो नहीं जाता। कुछ वर्ष बाद (सन् १८११ में) स्वयं गवर्नर जेनरल मिन्टो ने यह प्रश्न उठाया, और निम्न उद्गार व्यक्त किये—"साधारणतया यह कहा जाता है कि भारत के निवासियों में विज्ञान और साहित्य का धीरे धीरे ह्रास हो रहा है।.........इसके परिणामस्वरूप बहुत सी बहुमूल्य पुस्तकें या तो प्रयोग में नहीं लायी जातीं या नष्ट होती जा रही हैं। अतः यह भय है कि यदि सरकार ने संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान न किया तो इस विज्ञान और साहित्य को जीवित रखना

---

१. चन्द्रबली पाण्डेय—"कचहरी की भाषा और लिपि", पृ० २७।

असम्भव हो जायगा, क्योंकि कुछ काल बाद न पुस्तकें ही बचेंगी और न ही उनके विद्वान् रह जायेंगे। इंगलैंड में भी इसी प्रकार की भावनाएँ व्यक्त की गईं। परिणाम यह हुआ कि सन् १८१३ में कम्पनी सरकार ने यह निश्चय किया कि वह प्रतिवर्ष एक लाख रुपया शिक्षा पर व्यय करेगी। कम्पनी के लन्दन स्थित डाइरेक्टरों (निर्देशकों) ने इस विषय पर निम्न मत व्यक्त किया—

हमसे कहा गया है कि संस्कृत साहित्य में ऐसी बहुत सी कृतियाँ हैं जिनमें अति उत्तम नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन है। उसमें विस्तृत [illegible] शास्त्र का वर्णन है जिनमें जनता के प्रत्येक वर्ग के कर्तव्यों का उल्लेख है और जिनका अध्ययन ऐसे भारतीयों के लिए उपयोगी हो सकता है, जो सरकार के न्याय-प्रशासन विभाग में काम करना चाहते हैं। हमसे यह भी कहा गया है कि उसमें ऐसी पुस्तकें भी हैं जिनमें जड़ी-बूटियों के गुणों का तथा उनकी प्रयोग-विधि का वर्णन है ; यह ज्ञान योरोपीय डाक्टर के लिए लाभकारी हो सकता है। इसके अतिरिक्त उसमें नक्षत्र विद्या, अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित, की पुस्तकें भी हैं जिनसे पाश्चात्य विज्ञान को नवीन प्रकाश भले ही प्राप्त न हो, इतना लाभ तो अवश्य होगा कि भारतीय तथा हमारे अफसरों में एक संपर्क की कड़ी पैदा हो जायेगी।

इस तर्क से प्रभावित होकर कम्पनी सरकार ने सन् १८२१ में एक संस्कृत कालिज कलकत्ता में स्थापित किया। परन्तु संस्कृत शिक्षा पद्धति को पुनर्जीवित करने का विरोध उस समय के कई विख्यात पत्रों तथा व्यक्तियों के अतिरिक्त एक ऐसे नेता ने किया जो उस समय का सर्वोच्च भारतीय नेता और [illegible] जागृति का जन्मदाता माना जाता है। वह व्यक्ति था राजा राममोहन राय। इस विरोध से दूसरी विचारधारा का जन्म हुआ।

राजा ने अपना विरोध व्यक्त करते हुए कहा—

"हमें पता चला है कि सरकार एक संस्कृत स्कूल स्थापित करने जा रही है जो हिन्दू पंडितों के अधीन होगा, और जिसमें भारत की प्राचीन शिक्षा दी जायेगी। . . . . यह शिक्षा दो हजार वर्ष पुरानी है। . . . यदि इस देश को अंधकार में रखना है, तो संस्कृत पद्धति की शिक्षा अति उपयुक्त होगी। परन्तु, क्योंकि देश की जनता का सुधार करना सरकार का ध्येय है, इसलिए यदि योरोप में शिक्षा प्राप्त किए हुए कुछ विद्वान् नियुक्त कर लिए जायें और आवश्यक पुस्तकों, यंत्रों, उपकरणों आदि से सुसज्जित करके एक कालिज खोल दिया जाय, जिसमें गणित, प्राकृतिक दर्शनशास्त्र, रसायन-शास्त्र, शरीरविज्ञान

शास्त्र तथा अन्य उपयोगी विज्ञानों की शिक्षा दी जाय, तो एक अधिक उदार तथा प्रबुद्ध शिक्षा पद्धति का विकास हो सकता है।"[१]

अपनी इस धारणा के प्रति राजा राममोहन राय में इतना अधिक उत्साह था कि उन्होंने कुछ सम्पन्न तथा प्रभावशाली भारतीय और अंग्रेज अधिकारियों की सहायता से सन् १८१६ में एक कालिज स्थापित किया जिसमें शिक्षा का योरोपीय ढंग अपनाया गया। कलकत्ता के इस कालेज का नाम हिन्दू कालेज था। इस योजना को सरकार की ओर से प्रोत्साहन नहीं मिला। अंग्रेज अधिकारियों को आशंका थी कि अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के प्रचार से भारत के लोग कहीं भड़क न जायँ।

हिन्दू कालिज की स्थापना से पहिले भी अंग्रेजों के कुछ स्कूल खुल चुके थे परन्तु वे ईसाई धर्म-प्रचारकों तथा भारतीय जन-हितैषियों के प्रयत्न का फल थे; सरकार का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। धीरे धीरे सरकार की नीति और मनोवृत्ति में परिवर्त्तन आया और जब सन् १८२१ में बम्बई में भी एक हिन्दू कालिज की स्थापना हुई तो सरकार ने १५,२५० रुपये के वार्षिक अनुदान की घोषणा की। दो वर्ष बाद (सन् १८२३ में) सरकार ने आगरा में एक कालिज खोला। फिर तो अंग्रेजी शिक्षालय जहाँ तहाँ खुलने लगे; सरकार से अधिक उत्साह निजी व्यक्तियों में था। वास्तव में पूरे अंग्रेजी काल में शिक्षा-संचालन निजी प्रयत्न पर निर्भर रहा।

गण्यमान्य भारतीयों के इस उत्साह से अंग्रेज अधिकारियों को यह सोचने का साहस मिला कि अंग्रेजी को सरकारी विभागों के काम-काज की भाषा बनाया जाय। बंगाल सरकार ने कम्पनी के निर्देशक मंडल* को इस आशय का सुझाव भेजा, और निर्देशकों ने अपने उत्तर में (२९ सितम्बर १८३० को) कहा—"क्या ही अच्छा हो, यदि सब विभागों में अंग्रेजी का प्रयोग होने लगे, और उन सब भारतीय राजाओं तथा उच्च पद के भारतीय सज्जनों के साथ अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार हो, जो स्वयं अंग्रेजी समझते हैं या जिनके पास अंग्रेजी समझने वाले व्यक्ति हैं।" परन्तु निर्देशकों ने इस सुझाव के साथ यह परामर्श भी दिया कि अदालतों में देशी भाषाओं को मान्यता देना जरूरी है। उनका तर्क यह था कि न्याय का प्रशासन ऐसी भाषा के द्वारा होना चाहिए जिसे वकील और मुवक्किल समझते हों। "यह आशा करना व्यर्थ होगा कि निर्धन वर्गों के लोग जो अदालतों में वादी या प्रतिवादी के रूप में आते हैं एक विदेशी भाषा सीख लेंगे। अधिक उचित और सुगम यह होगा कि स्वयं न्यायाधीश क्षेत्र

---

१. Selections from Educational Records, Pt. I, Pp. 99-101

*Court of Directors.

की भाषा सीख लें। अतः मुकदमें की सुनवाई तथा कार्यवाही तो कम से कम सम्बन्धित जिले की भाषा में होनी ही चाहिए।"

सन् १८३५ में मैकाले ने, जो उस समय गवर्नर जनरल की शासन समिति के एक प्रमुख सदस्य थे, अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार करने के प्रश्न को एक नये उदार ढंग से सरकार तथा अंग्रेजी जनता के सामने रखा। उन्होंने अपनी स्मृति टिप्पणी में इस प्रकार के उद्गार व्यक्त किये—

"हो सकता है कि यौरोपीय शिक्षा-दीक्षा के ग्रहण करने से भारतीय जनता का मस्तिष्क इतना विकसित हो जाय कि वह वर्तमान शासन पद्धति से उकता उठे और वह यौरोपीय शासन-पद्धति की राजनीतिक संस्थाओं की माँग करने लगे। यह तो मैं नहीं कह सकता कि वह दिन कभी आयेगा या नहीं; परन्तु यदि वह आया तो अवश्य ही वह अंग्रेजों के इतिहास में अति गर्व का दिन होगा।....हो सकता है कि राजदंड हमारे हाथ से निकल जाय....परन्तु क्या ही अच्छी वह विजय है जिसमें दूसरी ओर पराजय होती ही नहीं।

एक बार पुनः गवर्नर-जेनरल की समिति में अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को प्रोत्साहन देने के प्रस्ताव का विरोध हुआ। स्वयं गवर्नर-जेनरल विलियम बेंटिंग ने कहा—"संभव है भारत की देशी शिक्षा पद्धति में हस्तक्षेप करने से लाभ की तुलना में हानि अधिक हो। मैं यह बात अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ; अन्य भारतीय संस्थाओं में हस्तक्षेप करने का फल अच्छा नहीं निकला है।" महीनों तक मैकाले की टिप्पणी विवाद का विषय बनी रही, परन्तु अंत में समिति ने बहुमत से मैकाले के प्रस्ताव को स्वीकार किया और यह निर्णय किया कि "भारत के लोगों में योरोपीय साहित्य तथा विज्ञान का प्रसार करना अंग्रेजी सरकार का महान् ध्येय होना चाहिए; अतः शिक्षा सम्बन्धी अनुदान की संपूर्ण धनराशि का उपभोग केवल अंग्रेजी शिक्षा-प्रदान के लिए किया जाय।"

इस नीति के कार्यान्वयन में बहुत धीमे पग उठाये गये। सरकार से अधिक ईसाई धर्म प्रचारकों तथा भारतीय जनहितैषियों ने उत्साह दिखलाया। यह नीति कैसे आगे बढ़ी तथा शिक्षा और राजनीति पर इसका क्या प्रभाव पड़ा यह अलग विषय है। प्रस्तुत विषय के प्रसंग में केवल यह जानना जरूरी है कि इस नयी विचार धारा ने हिन्दी भाषा की प्रगति पर क्या प्रभाव डाला।

सभी जानते हैं कि राजभाषा के ज्ञान से सरकारी नौकरियों की प्राप्ति सुगमता से हो जाती है। यही कारण है कि मुस्लिम शासनकाल में भारत के लोगों ने फारसी

पढ़ी और उसमें विद्वत्ता प्राप्त की। फिर वे उर्दू सीखने लगे। और जब अँग्रेजी शासन आया तो स्वभावतः ध्यान अंग्रेजी की ओर आकृष्ट हो गया। इस परिवर्तनशील मनोवृत्ति में हिन्दू लोग मुसलमानों से आगे थे। सर्वप्रथम उन्होंने ही अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना में सक्रिय भाग लेना आरंभ किया तथा सर्वप्रथम उन्हीं के बच्चे इन स्कूलों में भरती हुए। उन्हें इसका फल भी मिला। अंग्रेजी सरकार के विभिन्न विभागों में उन्हें नौकरियाँ मिलने लगीं, यहाँ तक कि फारसी और उर्दू के मुसलमान विद्वान् जो अंग्रेजी के आकर्षण से अलग रहे इन लोगों से ईर्ष्या करने लगे।

राजा राममोहन राय के काल से अंग्रेजी के प्रति यह धारणा सर्वत्र बनने लगी कि वह समृद्ध भाषा है तथा उसमें आधुनिक विद्या और विज्ञान का साहित्य प्रचुर मात्रा में है। इस धारणा की पृष्ठभूमि में अंग्रेजी और हिन्दी के ज्ञान-भंडारों की तुलना का आभास था ; अर्थात् हिन्दी में आधुनिक शिक्षा का माध्यम बनने की क्षमता नहीं है। उस समय यह विचार पैदा होना चाहिये था कि यदि क्षमता नहीं है तो पैदा की जाय। परन्तु शायद ऐसा नहीं हुआ। इस विचार की उत्पत्ति हुई हो इसका प्रमाण प्रयत्न के रूप में कहीं नहीं मिलता। अतः भारत के सब भागों में अंग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम बना दी गयी। देश की किसी भाषा में आधुनिक ज्ञान की अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद नहीं किया गया, और न स्वतन्त्र रूप से उस ज्ञान की पुस्तकें तैयार की गईं। हिन्दी अन्य भाषाओं की भाँति निर्धन रही, बल्कि कई भारतीय भाषाओं से अधिक निर्धन।

अध्याय २

क्षेत्रीय बोलियाँ तथा सर्वमान्य हिन्दी

अब प्रश्न यह उठता है कि उस समय हिन्दी का क्या रूप था, उसकी क्या क्षमता थी। अंग्रेजी शासकों ने भारत में बहुत से अनुसंधान तथा शोध-कार्य किये। भारत की विभिन्न भाषाओं के विषय में भी उन्होंने विस्तृत जानकारी प्राप्त की जिसका विवरण हमें गजेटियरों, जनगणना प्रतिवेदनों तथा अन्य पुस्तकों में मिलता है। शोध तथा अनुसंधान करनेवाले व्यक्तियों में गिलक्राइस्ट तथा ग्रियर्सन के नाम प्रमुख हैं। उन्होंने पता लगाया कि जो भाषा साधारणतया हिन्दी कहलाती है उसके विशाल क्षेत्र में अनेक स्थानीय बोलियाँ हैं जिनमें से कुछ तो एक दूसरे से इतनी अधिक भिन्न हैं कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के लोगों की बोली नहीं समझ पाते, या बहुत कठिनाई से समझ पाते हैं। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों के रहनेवाले भोजपुरी क्षेत्र के ग्रामों की बोली को आसानी से नहीं समझ पाते। स्वयं पूर्वी क्षेत्र की बोलियों में भारी भिन्नता है।

जनगणना के प्रतिवेदनों के शिक्षा तथा भाषा सम्बन्धी अध्यायों को पढ़ने से कुछ निम्न प्रकार के प्रश्न मन में पैदा होते हैं—जो भाषा अब हिन्दी कहलाती है उसकी ठीक परिभाषा क्या है? वह भारत के किस भौगोलिक क्षेत्र की भाषा थी और है? उसका क्या प्रतिमान है, और वह प्रतिमान कैसे विकसित हुआ? वह अपने वर्तमान क्षेत्र की एकमात्र सार्वजनिक बोली क्यों नहीं बन पायी? ये तथा इस प्रकार के अन्य प्रश्न हिन्दी की उन कठिनाइयों से सम्बद्ध हैं जिनका उन्हें १९वीं शती में सामना करना पड़ा।

आजकल खड़ी बोली को हिन्दी गद्य की भाषा माना जाता है। बोली के सुव्यवस्थित रूप को ही भाषा कहते हैं; अतः इस परिभाषा के अनुसार गद्य का महत्व पद्य से अधिक है। गद्य से ही पद्य रचना की जाती है। यह बात और है कि लिखित साहित्य गद्य न हो बल्कि पद्य हो, जैसी कि हिन्दी की दशा १८वीं शती के अंत तक तथा उसके बाद भी कुछ वर्षों तक रही। उस समय हिन्दी के पास महान् पद्य कृतियाँ थीं, जिनका विश्व के साहित्य में अति उच्च स्थान है। यह वह समय था जब

गद्य का प्रयोग केवल बोलचाल में होता था, परन्तु मानव के हृदय-उद्‌गारों को व्यक्त करने के लिए पद्य का प्रयोग किया जाता था। हिन्दी काव्य-कृतियों में प्रायः ईश्वर का गुण गान किया गया है या सामन्तों की प्रसंशा की गयी है। सामान्यतः कविगण भाषा का लिखित प्रयोग (पद्य द्वारा) अध्यात्मवाद को रोचक रूप से प्रस्तुत करने के लिये करते थे ; यह उनके उद्‌गारों की अभिव्यक्ति का साधन था।

शायद यह महसूस नहीं किया गया कि भाषा का प्रयोग (गद्य के रूप में) मानव के भौतिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर विचार प्रकट करने के लिए या जीवन के अनुभवों को लिपिबद्ध करने के लिए भी होना चाहिए। इस कमी को उस समय महसूस किया गया जब १९वीं शती में शिक्षा का पाठ्यक्रम व्यापक हुआ और विद्यार्थियों को कई विषय पढ़ाये जाने लगे। तब यह कहा गया कि हिन्दी में तो पुस्तकें ही नहीं हैं—न कोई इतिहास की पुस्तक है और न भूगोल की, न रेखागणित की और न किसी अन्य विषय की।

उस समय संस्कृत भाषा ज्ञान का भंडार मानी जाती थी। संस्कृत के पंडित अध्यात्मवाद तथा तत्संबंधित विषयों (जैसे ज्योतिषशास्त्र, खगोल विद्या) के विद्वान् होते थे; उस भाषा में मनोरंजन साहित्य भी था, परन्तु उसमें उन विषयों की पुस्तकें नहीं थीं जो अंग्रेजी काल में स्कूल और कालिजों के मुख्य पाठ्य विषय बनाये गये।

हिन्दी की न्यूनताएँ और भी अधिक थीं। वर्तमान हिन्दी क्षेत्र की विभिन्न स्थानीय बोलियों में, संस्कृत शब्दों की सहायता से लिखे हुए, पद्य-साहित्य को हिन्दी का नाम दिया गया ; अर्थात् हिन्दी का पुराना पद्य-साहित्य क्षेत्रीय बोलियों में है, विशेषकर ब्रजभाषा तथा अवधी में। ब्रजभाषा, अवधी तथा खड़ीबोली के क्षेत्रों के लोग एक दूसरे की बोली समझ लेते हैं ; विशेष भेद केवल क्रियाओं में होता है, परन्तु यह तो मानना पड़ेगा कि इन सब क्षेत्रों को एक ऐसी सामान्य भाषा की आवश्यकता थी, जो राजभाषा बन सके तथा जो आधुनिक शिक्षा का माध्यम बना ली जाय। उस समय भाषा सम्बन्धी एक अद्‌भुत् विरोधाभास था—एक ओर तथा-कथित हिन्दी का उच्च, गौरवशाली तथा विशाल पद्य था, और दूसरी ओर उसके पास व्यापक जनप्रयोग की कोई एक नागरिक बोली नहीं थी। मुगलकाल में खड़ी बोली ने इस कमी को अपने ढंग से पूरा करना आरम्भ किया। उसका प्रसार कुछ मनोरंजक तथा कुछ असहाय परिस्थिति में हुआ। पिछले अध्याय में उर्दू की उत्पत्ति का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। पहिले यह उर्दू पश्चिमी जिलों की नागरिक भाषा हुई, और फिर धीरे धीरे फौजी व्यक्तियों, सरकारी नौकरों, व्या-

पारियों तथा अन्य व्यक्तियों के साथ उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में पहुँच गई जहाँ की स्थानीय बोलियाँ खड़ी बोली से मिलती-जुलती थीं। केवल इतना ही नहीं यह लश्करी भाषा उन प्रान्तों में भी पहुँच गयी जहाँ की बोलियों और खड़ी बोली में कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उर्दू भाषा अति सीमित रूप में एक अन्तर-प्रान्तीय भाषा बन गयी।

परन्तु उत्तरी भारत तक में उर्दू सामान्य प्रयोग की भाषा नहीं थी, और न फारसी लिपि ही। अधिकतर लोग क्षेत्रीय भाषाएँ बोलते थे, और नागरी लिपि में लिखते थे। इन क्षेत्रों के सामने उर्दू ने एक चुनौती तथा प्रेरणा रख दी थी—यह कि उत्तरी भारत के विशाल क्षेत्र में एक ऐसी सर्वसामान्य भाषा का प्रचार होना चाहिए, जिसका प्रायः सम्पूर्ण आधार भारतीय हो। यह भाषा खड़ी बोली ही हो सकती थी, क्योंकि चिरकाल से यह दूर दूर फैली हुई थी; एक क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं थी।

खड़ी बोली को उर्दू भाषा का रूप फारसी तथा अरबी शब्दों ने दिया। जब इस मूल तत्व को दृष्टि में रखा जायगा तब यह धारणा स्वतः पैदा हो जायगी कि उर्दू के जन्म से पहिले भी खड़ी बोली के क्षेत्र में एक शिक्षित वर्ग होगा जो अशिक्षित व्यक्तियों से भिन्न एक नागरिक भाषा बोलता होगा जिसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता होगा। यदि उस समय लोकतंत्र के नियमों के अनुसार यह निर्णय किया गया होता कि नागरिक खड़ी बोली सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र की प्रतिमान भाषा मान ली जाय, तब उर्दू के बजाय इस भाषा का प्रसार होता। इस प्रकार का निर्णय शासकीय स्तर पर ही हो सकता था, परन्तु चूँकि तत्कालीन शासन के साथ उर्दू सम्बद्ध हो चुकी थी और वह शासन फारसी भाषा, लिपि तथा सभ्यता से सम्बद्ध था इसलिए खड़ी बोली के क्षेत्र की नागरिक भाषा का (विशुद्ध भारतीय रूप में) प्रसार न हो सका।

इस प्रकार फारसीमय खड़ी बोली (उर्दू) की तुलना में संस्कृतमय खड़ी बोली (हिन्दी) का क्षेत्र सीमित हो गया। हिन्दी गद्य रचना का आरम्भ कब हुआ? यह एक साहित्यिक अनुसंधान का प्रश्न है। इसके उत्तर से, जो अब तक विभिन्न शोधकर्त्ताओं ने दिया है, खड़ीबोली की व्यापकता सिद्ध नहीं हुई है, बल्कि विपरीत प्रमाण मिला है। प्राचीन गद्य के जो नमूने एकत्र किये गये हैं, उनके पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी भाषा क्षेत्रीय है, खड़ीबोली नहीं है। हाँ, उन लेखकों की भाषा का माध्यम खड़ीबोली अवश्य है, जो खड़ीबोली-क्षेत्र के निवासी थे। अन्य लेखकों की भाषा में या तो क्षेत्रीय बोली की प्रधानता है, या वह भाषा पूर्णतया

क्षेत्रीय बोली में लिखी गयी है। उदाहरणार्थ कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—अकबर के समय के गंग कवि की गद्य पुस्तक "चंद-छंद बरनन की महिमा" से—"और आमर-वास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आप आप कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से।" सन् १७६१ ई० में लिखित बसवा (मध्यप्रदेश) निवासी दौलतराम के "पद्मपुराण" से—"जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं।" हिन्दी जगत में विख्यात लल्लू जी लाल तक की भाषा में क्षेत्रीयता का पुट है, (वह आगरा के निवासी थे)। उनके "प्रेम सागर" की भाषा का नमूना यह है—"तिस समय घन जो गरजता था सोई तौ धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की-सी चमक थी, बगपांत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी।" सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' से—"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन-जौन किये से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे।"

अहिन्दी क्षेत्रों की हिन्दी गद्य में भी खड़ी बोली की दृष्टि से इसी प्रकार के दोष हैं। भारत में राजनीतिक जाग्रति के प्रणेता राजा राम मोहनराय को जब यह महसूस हुआ कि पाश्चात्य धर्म प्रचारक तो ईसाई धर्म के प्रचार में लगे हुए हैं, और शिक्षित भारतीयों के मन में भी यह विचार पैदा होने लगा है कि योरोपीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति अति उच्चतर हैं, तो उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। समाज का काम हिन्दुत्व बल्कि भारत्व के अधिक उच्चतर रूप को प्रकाश में लाना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने (अन्य उपायों के अतिरिक्त) सन् १८२६ ई० में 'बंगदूत' नामक हिन्दी पत्र प्रकाशित किया। राजा राममोहन राय बंगाल के निवासी थे। उन्होंने पटना में शिक्षा प्राप्त की थी। उन्हें फारसी का अच्छा ज्ञान था। वह तथाकथित "हिन्दुस्तानी" भी जानते थे। उनकी हिन्दी का नमूना यह है—"श्री सुब्रह्मण्य जी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययनहीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप उठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययनहीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं हे।"

हिन्दी के प्रथम समाचार पत्र "उदंतमार्त्तंड" की हिन्दी भी सम्पादक की क्षेत्रीय भाषा है; (यह पत्र सन् १८२६ में जुगुल किशोर ने प्रकाशित किया था)—"इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ औ समझ लेयं ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषे की उपज न छोड़े इसलिए श्रीमान् गवरनर-

जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा।"

दूसरी ओर खड़ी बोली की विशुद्ध भाषा का गद्य है जिसका गर्वीला उदाहरण राम प्रसाद "निरंजनी" द्वारा (सन् १७४१ ई० में) लिखित "भाषा योग वसिष्ठ" से दिया जाता है। इस उदाहरण से यह सिद्ध करना कि खड़ी बोली के गद्य का सिलसिलेवार विकास उस समय से शुरू हुआ तथा तभी से उसका क्षेत्र विस्तृत होने लगा, भूल होगी। रामप्रसाद खड़ी बोली के क्षेत्र के निवासी थे; स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपनी मातृभाषा को अपनी लेखनी का वाहक बनाया, बिल्कुल वैसे ही जैसे अन्य लेखकों ने उसके बाद भी अपनी अपनी क्षेत्रीय बोलियों का प्रयोग किया या अपनी लिखित भाषा में उन बोलियों को प्रधानता दी। असिल में ऐसा स्वतः हो जाता है। रामप्रसाद की भाषा का एक नमूना यह है—"इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्राह्मण्य! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है। कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अन्तःकरण की शुद्धि के बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।" सदासुखलाल, 'नियाज' तथा इंशाअल्ला खाँ की रचनाएँ भी खड़ी बोली में हैं और इसका कारण यही है कि वे खड़ी बोली के क्षेत्र (दिल्ली) के रहनेवाले थे। उनका महत्व भी खड़ी बोली के गद्य के इतिहास की तिथियों के लिए हैं; यह सोचना कि उनके प्रयत्न से खड़ी बोली को सर्वमान्यता मिली या उसका क्षेत्र विस्तृत हुआ अतिशयोक्ति होगी।

परन्तु उस काल की राजनीतिक पृष्ठभूमि में विचारणीय बात यह थी कि अंग्रेजी प्रशासन में फारसी हटने के बाद, उत्तरीय भारत में किस भारतीय भाषा को अदालती तथा दफ्तरी भाषा बनाया जाय। उत्तर मिला, उर्दू को। अब प्रश्न यह उठा कि खड़ी बोली को शुद्ध भारतीय कलेवर में नागरी लिपि के साथ क्यों न अपनाया जाय? यह प्रश्न बिल्कुल स्वाभाविक था। उर्दू एक मिश्रित भाषा थी; उसने भारतीय आधार पर बाहरी शब्दों की सहायता से भाषा का निर्माण किया था। अतः शुद्धिवादियों के मन में प्रचलित नागरिक बोली का भारतीयकरण करने का उत्साह पैदा होना बिल्कुल उचित था। इसमें संकीर्णता नहीं कहीं दिखलाई देती: भारतीयकरण का अभिप्राय यह नहीं है कि बाहरी शब्दों का शत प्रतिशत बहिष्कार किया जाय, बल्कि यह है कि मूल भाषा का निर्माण भारतीय सामग्री से किया जायगा तथा उसको अधिक सम्पन्न बनाने के लिए ऐसे बाहरी शब्दों को भी ले लिया जाय जिनके लिए उपयुक्त शब्द मूल भाषा में नहीं है या जो व्यवहार में प्रचलित हो गये हैं।

अध्याय ३

अदालती भाषा : उर्दू की विजय

हिन्दी को समृद्ध बनाने की दिशा में अंग्रेज अधिकारियों ने भी योग दिया। लल्लूजीलाल आदि तत्कालीनिक गद्य-लेखकों के प्रयत्न, फोर्ट विलियम कालेज के डाक्टर गिलक्राईस्ट के निर्देशन में किये गये थे। कुछ अंग्रेज शासकों का यह मत था कि हिन्दी तथा नागरी लिपि को सरकारी दफ्तरों की भाषा बनाया जाए। इसमें उल्लेखनीय हैं फ्रेडरिक जान शोर जो कई स्थानों पर उच्चाधिकारी रहने के बाद न्यायाधीश नियुक्त किये गये थे। उन्होंने अपनी पुस्तक "भारतीय मामलों पर टिप्पणियाँ" में, जो सन् १८३६ में प्रकाशित हुई थी, हिन्दी (जिसे उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' कहा है) तथा नागरी लिपि का समर्थन करते हुए लिखा है :—

'फारसी भाषा के विरुद्ध भारी आपत्ति यह है कि साधारण जन समूह अदालत की कार्यवाही नहीं समझ पाता। साधारण काम के लिए भी लोगों को गुमाश्ते रखने पड़ते हैं। अंग्रेजी भाषा के विरुद्ध भी यही आपत्ति उठायी जा सकती है। अच्छा तो यह होगा कि यह थोड़े से शासक लोग जन समूह की भाषा सीख लें, बजाय इसके कि जन समूह को थोड़े से व्यक्तियों की भाषा सीखने के लिए मजबूर किया जाए। यदि फारसी को आवश्यक माना जाय तो प्रश्न यह उठेगा कि फारसी के आने से पहिले हिन्दू शासक अपना सरकारी काम कैसे चलाते थे। आज मराठे, नेपाली तथा अन्य सरकारें अपना काम कैसे चला रही हैं? और स्वयं हमारे कुमायूँ तथा गढ़वाल के प्रान्तों में, जहाँ पुलिस की रिपोर्ट तथा कचहरी के कागज हिन्दुस्तानी भाषा तथा नागरी लिपि में लिखे जाते हैं, काम कैसे चलता है? एक शिक्षित व्यक्ति, जिसे हिन्दुस्तानी भाषा का साधारण ज्ञान है, नागरी लिपि सुगमता से सीख सकता है। प्रति दिन आध घण्टे के अभ्यास से कोई भी अफसर छः मास में यह भाषा उतनी

---

१. "Notes on Indian Affairs."

आसानी से लिख पढ़ सकता है जितनी आसानी से वह अंग्रेजी लिखता पढ़ता है।"[1]

जनता की सुविधा का ध्यान इससे पहिले सरकार के सामने कुछ विभिन्न रूप में था। तब यह ध्यान रखा जाता था कि सरकारी आदेशों तथा अधिनियमों को नागरी तथा फारसी दोनों लिपियों में प्रकाशित किया जाय। जिस भाषा में अनुवाद किया जाता था, वह आज कुछ अजीब-सी लगती है, उसका एक नमूना सन् १८०३ का निम्न आदेश है—"किसी को इस बात का उजर[2] नहीं होय कि ऊपर के दफे का लीखा हुकुम से वाकीफ[3] नहीं है, हरी एक[4] जिले के कलीकटर साहेब[5] को लाजीम[6] है कि इस आईन के पावने पर एक एक केता[7] इसतहारनामा[8] निचे के सरह से फारसी व नागरी भाषा वो[9] अच्छर में लीखाय कै—कचहरी में लटकावही।" अनुवाद अनुवादक की योग्यता तथा बोली पर निर्भर होता है; यहाँ जो तथ्य विषय-संगत है, वह यह कि उस समय की सरकार ने जनभाषा तथा जनलिपि का प्रयोग आवश्यक समझा।

तेंतीस वर्ष बाद जान शोर आदि अधिकारियों के सुझाव पर भारत सरकार ने फारसी के बजाय जनता की भाषा को अदालती काम के लिए अपनाने का निर्णय लिया। पश्चिमोत्तर प्रान्त की सरकार ने इस विषय में जो 'इश्तहार-नामः' नागरी लिपि में प्रकाशित किया वह यह था:—

'पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी का काम फ़ारसी जबान में लिखा-पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है और जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सब को चैन आराम होगा। इसलिए हुक्म दिया गया है कि १२४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना-अपना सवाल अपनी हिन्दी की बोली में और पारसी के[10] नागरी अच्छरन में लिखा के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तोने अच्छरन में और हिन्दी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायेगा।'

इस आदेश से जनता को अपनी भाषा तथा अपनी लिपि में 'सवाल' 'दाखिल' करने की सुविधा प्राप्त हो गयी, और यह भी कि उस पर उसी भाषा में "हुक्म"

---

१. पृ० २९, ३६। २. उज्र। ३. हुकुम से सब वाकिफ। ४. हरेक। ५. कलेक्टर। ६. लाजिम। ७. किता। ८. इश्तहारनामा। ९. व। १०. या।

होगा। इस "इश्तहार" की दूसरी विशेषता यह थी कि लिपि तो कोई भी (नागरी या फारसी) प्रयोग में लायी जा सकती थी ; परन्तु भाषा "हिन्दी की बोली" होनी चाहिये। इससे प्रत्यक्ष रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि उर्दू अर्थात् फारसी मिश्रित खड़ी बोली के बजाय भारतीय रूप की खड़ी बोली अर्थात् हिन्दी को वरीयता दी गयी थी।

इस "इश्तहार" में यह आशा निहित प्रतीत होती थी कि सरकार अपने अगले आदेश में हिन्दी को फारसी के स्थान पर अदालती भाषा मान लेगी ; परन्तु जो आदेश जारी हुआ, वह इसके विपरीत था। सन् १८३७ में सरकार ने यह निश्चय किया कि अदालतों की भाषा उर्दू होगी। इस आकस्मिक नीति-परिवर्तन के पीछे बौखलाहट, विवाद, जोश और तर्क का एक उद्वेलन था, जो सरकारी अहलकारों तथा फ़ारसी व उर्दू के ज्ञाताओं ने खड़ा किया था। फ़ारसी भाषा और उर्दू की लिपि एक ही है ; अतः अहलकारों ने कहा कि उर्दू को अपनाने से सरकार का प्रयोजन अधिक सुगमता से पूरा हो जायेगा, उस हालत में भाषा देशी हो जायेगी और लिपि पूर्ववत रहेगी। अधिकतर अहलकार केवल उर्दू जानते थे। नागरी लिपि से अनभिज्ञ थे। यदि उर्दू के बजाय हिन्दी को अपनाया जाता, तो या तो उन्हें हिन्दी सीखनी पड़ती, या नौकरी से हाथ धोना पड़ता। इस प्रकार भाषा के साथ रोजी का प्रश्न जुड़ गया। सरकार ने भी सोचा कि व्यावहारिक दृष्टि से इस आपत्ति में तर्क है। उर्दू के शिक्षित समाज ने भी हिन्दी का विरोध किया। उर्दू के अधिकांश समर्थक मुसलमान थे। उनके लिए भाषा का प्रश्न कोरा प्रशासकीय प्रश्न नहीं था ; वह भावनोत्पादक तथा एक हद तक धार्मिक भी था। वे चिरकाल से फ़ारसी का प्रयोग कर रहे थे, और उन्हें यह संतोष था कि मुस्लिम शासन के चले जाने के बाद भी उनकी विरासत मौजूद है। उर्दू के प्रति उन्हें फारसी के समान प्रेम हो गया था। उर्दू में उनका धार्मिक साहित्य भी लिखा जाने लगा था।

इस मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि में उर्दू अदालती भाषा बन गयी। इसके कारण एक बड़ी सीमा तक सरकार का उद्देश्य रद्द हो गया। फारसीदाँ अहलकार, वकील तथा अदालतों के अफसर, जो उर्दू लिखते थे, उसमें फारसी के शब्दों की भरमार होती थी। कभी-कभी तो केवल क्रियाएँ खड़ीबोली की होती थीं और वाक्य के अन्य शब्द फारसी के होते थे। कभी-कभी वाक्य-रचना का आधार भी फारसी का व्याकरण होता था। यह स्वाभाविक था, क्योंकि लिपि के साथ सम्बंधित भाषा अपनी प्रतिभा तथा साज-सज्जा भी लाती है।

यदि सरकारी आदेश में यह कहा गया होता कि फारसी के बजाय भारत की क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग किया जायेगा और लिपि भी भारतीय होगी, तो अदालत की भाषा हिन्दी हो जाती, अर्थात् वह खड़ीबोली, जिसमें फारसी शब्दों के स्थान में संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है ; लेकिन उस समय तर्क का प्रवाह उर्दू की तरफ बह चला और वह सौ वर्ष तक अदालती भाषा के आसन पर जमी रही ।

इन सौ वर्षों के अंतिम पांच-छः दशक हिन्दी-संघर्ष का काल हैं। राज-भाषा या अदालती भाषा के लिए देश की भाषा को ही उपयुक्त समझना चाहिए ; इससे विपरीत निर्णय उसी दशा में होता है, जब देश में विदेशी सरकार हो और लोगों में निज भाषा के प्रति प्रेम-भाव की कमी हो। निज भाषा को राज-भाषा के पद पर आसीन कराने की भावना का सीधा सम्बन्ध देशभक्ति और राष्ट्रीय जागृति से है। सैकड़ों वर्ष से भारत में विदेशी शासक राज करते रहे, और भारत के लोग शासकों की मातृ-भाषा सीखते रहे। युद्धों तथा उनके फलस्वरूप शासन परिवर्तन को भारत की जनता केवल दर्शक की हैसियत से देखती थी ; स्वभावतः उसका यही दृष्टिकोण भाषा के प्रति भी था। संभव है, देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना समझदार व्यक्तियों के मन में रही हो, संभव है, विदेशी भाषा के सिंहासनासीन होने और निज भाषा के पदच्युत होने से शिक्षित वर्गों के स्वाभिमान को आघात पहुँचा हो, परन्तु उनकी बेबसी थी। कौन राजा होगा और कौन-सी भाषा राज-भाषा होगी, इन बातों का जनता से कोई सम्बन्ध नहीं था ; अतः सन् १८३७ में जब उर्दू को अदालती भाषा बनाया गया, तो लोगों ने कोई आन्दोलन नहीं किया।

इस तथ्य को एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। अठारहवीं शती में भारत में किस प्रकार के और कितने शिक्षालय थे तथा जनसंख्या में शिक्षित व्यक्तियों का क्या अनुपात था, इसके विषय में कोई अधिकृत विवरण उपलब्ध नहीं है। जमींदार लोग रक्षा की भांति शिक्षा का भी कुछ प्रबन्ध करते थे। मालूम होता है, इस शिक्षा से बच्चों को साधारण लिखना-पढ़ना आ जाता था, और अंकगणित का साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाता था। पुस्तकें प्रायः नहीं थीं ; अधिकतर शिक्षा जबानी दी जाती थी। (यह तथ्य हिन्दी तथा उर्दू दोनों के विषय में एक समान है) । उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध तक सरकार को शिक्षा में कोई विशेष अभिरुचि नहीं थी; पाठशालाओं और मक़तबों का संचालन निजी व्यक्ति करते थे। और अंग्रेजी स्कूल या तो ईसाई धर्म-प्रचारक चलाते थे, या सम्पन्न भारतीय; सरकारी अनुदान बहुत कम था। उच्च शिक्षा, जो अनुपाततः बहुत कम थी, संस्कृत या फ़ारसी की पुस्तकों द्वारा दी जाती थी। उसमें तथा हिन्दी की शिक्षा

में पृथ्वी-आकाश का अन्तर था। ऐसी दशा में संस्कृत के प्रति सम्मान होना तथा हिन्दी के प्रति उच्च आकांक्षा का न होना स्वाभाविक-सा था। हिन्दी प्रारंभिक (काम चलाऊ) शिक्षा का माध्यम मानी जाती थी। जनता में हिन्दी के मुकाबले उर्दू को कहीं अधिक उच्च स्थान प्राप्त था, क्योंकि "यह प्रतीत होता है कि उन्नीसवीं शती के प्रारंभ में फारसी का प्रयोग सरकार के महत्त्वपूर्ण कागजों में किया जाता था और सरकार तथा जनता के बीच के व्यवहार की भाषा उर्दू थी।"[१]

भारतेन्दु-काल से पूर्व तक हिन्दी की दशा दरिद्र रही। सन् १८८२–८३ के शिक्षा-आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में यही लिखा कि "सामान्यतः शिक्षा साधारण लिखना-पढ़ना तथा अंकगणित सीखने तक सीमित है।" आयोग ने यह भी शिकायत की कि हिन्दी में पुस्तकों की बहुत कमी है तथा आम तौर पर बच्चों को ज़बानी पढ़ाया जाता है। उर्दू की दशा भी बहुत अच्छी नहीं थी।

परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कर्मण्य जीवन-काल से पहले ही हिन्दी के प्रति एक नयी भावना पैदा होने लगी थी। शिक्षा-विभाग के वार्षिक प्रतिवेदनों तथा जनगणना के प्रतिवेदनों से यह सिद्ध किया जाने लगा था कि हिन्दी-भाषी प्रांतों में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या उर्दू के विद्यार्थियों से कहीं अधिक है।

---

१. उत्तर-पश्चिमी प्रान्त का जन-गणना प्रतिवेदन—(१९०१ ई०), भाग १, पृ० १८६

अध्याय ४

बिहार की अदालतों में हिन्दी

सन् १८३७ ई० के उर्दू सम्बन्धी आदेश के पंद्रह-बीस वर्ष बाद सरकार से यह अनुरोध किया जाने लगा कि अदालतों तथा दफ्तरों में फारसी लिपि के बजाय नागरी को मान्यता प्रदान की जाये। बिहार में प्रबल माँग की गयी कि अदालतों में उर्दू तथा फारसी लिपि का स्थान हिन्दी तथा नागरी लिपि को दिया जाये। सातवें दशक में इस माँग ने किसी हद तक आन्दोलन का रूप ले लिया; हिन्दी के लिए सार्वजनिक रूप से प्रस्ताव पारित किये गये और सरकार के पास स्मृति-पत्र भेजे गये। इसका फल यह हुआ कि सन् १८७३ में बंगाल सरकार ने (उस समय बिहार का क्षेत्र बंगाल प्रान्त में शामिल था) यह आदेश जारी किया कि "पटना भागलपुर तथा छोटा नागपुर के डिवीजनों की अदालतों तथा दफ्तरों में सब विज्ञप्तियाँ तथा घोषणाएँ हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि में जारी की जाएँ; सरकारी रेकार्ड (अभिलेख, कागज-पत्तर) हिन्दी में रक्खे जाएं ; जनता सुविधानुसार अपनी याचिकाएँ हिन्दी या उर्दू-किसी भी भाषा में भेज सकती है; पुलिस अफसरों तथा अन्य दफतरी अफसरों से कहा जाय कि वे हिन्दी का अक्षर-ज्ञान प्राप्त करें।"

इस आदेश के कार्यान्वियन में कड़ाई नहीं बरती गयी, जिसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी अमला पूर्ववत उर्दू का प्रयोग करता रहा। आदेश के प्रति उदासीनता के अतिरिक्त विरोध भावना भी दिखलाई गयी। इस प्रतिक्रिया में हिन्दू और मुसलमान कर्मचारी दोनों ही एक मत थे। कुछ परिवारों का पुश्तैनी पेशा सरकारी नौकरी हो जाता है ; सरकार चाहे कोई हो, वे अपने बच्चों को दफतरों में काम करने के लिए तैयार करते हैं। इस प्रवृत्ति के अनुसार हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उर्दू पढ़ते थे, और अपने बच्चों को भी उस भाषा की काम-चलाऊ शिक्षा देते थे, जिससे कि वे वयस्क होने पर कचहरियों तथा अन्य दफतरों में अहलमद बन जाएँ। ऐसी परिस्थिति में विरोध स्वाभाविक था। नये आदेश का हानिकारक प्रभाव केवल वर्तमान अमले पर ही नहीं, बल्कि आने वाली पीढ़ी पर भी पड़ता, जो उर्दू सीख रही

थी। एक अद्‌भुत मनोरंजक कशमकश पैदा हो गयी। एक ओर वे हिन्दी-हितैषी आन्दोलनकारी थे जो मातृभाषा की भावना से प्रेरित होकर उसे सरकारी आसन पर बैठाने के लिए व्यग्र थे और दूसरी ओर वे लोग थे, जिन्हें यह भय था कि हिन्दी के आ जाने से उनकी तथा उनके पुत्रों तथा सम्बन्धियों की पुश्तैनी जीविका छिन जायेगी।

परन्तु सरकारी आदेश जारी हो चुका था, और जब यह पता चला कि उसका पालन नहीं हो रहा है, तो अप्रैल १८७४ में एक परिपत्र द्वारा अमले से पुनः आग्रह किया गया कि वह १८७३ के आदेश का पालन करें; परन्तु फिर भी हिन्दी का बहिष्कार जारी रहा।

सन् १८७५ ई० में यह प्रश्न पुनः उठाया गया। पटना और भागलपुर के कुछ निवासियों ने एक बड़ा आवेदन-पत्र (पुस्तिका के रूप में) तैयार करके पटना डिवीजन के कमिश्नर के पास भेजा। कमिश्नर ने बंगाल सरकार को लिखा और अपने पत्र में कहा कि "बिहार की अदालतों और दफ्तरों में नागरी चलाई जा सकती है तथा चलाई जानी चाहिये। इस परिवर्तन का विरोध कायस्थ और मुसलमान कर रहे हैं, जिनका अदालती भाषा पर एकाधिकार है। उन्हें अपने अफसरों की सहायता भी प्राप्त है, क्योंकि उनके मन में भी उर्दू के प्रति पक्षपात की भावना है। अतः लिपि-परिवर्तन की आज्ञा को कार्यान्वित करने में संतोष और दबाव से काम लेना पड़ेगा। मेरे विचार में बिहार में हिन्दी को अदालती भाषा बनाने के पक्ष में वही तर्क है, जो बंगाल में बंगाली को अदालती भाषा बनाने के पक्ष में है। मुझे पता चला है कि बंगाल में बंगाली भाषा का विरोध उस समय किया गया था, जब उसे अदालती भाषा के लिए स्वीकृति दी गयी थी।"

बिहार की अदालतों में जिस उर्दू का प्रयोग किया जाता था, उस पर टीका करते हुए कमिश्नर ने कहा—"इस समय के लिखे हुए अदालती कागजात उस समय के कागजात से भिन्न नहीं हैं, जब अदालतों की भाषा फारसी थी। जो अदालती भाषा इस समय हिन्दुस्तानी कहलाती है, उसमें क्रियाएं तो हिन्दुस्तानी की अवश्य हैं; परन्तु उसके अन्य शब्दों में अधिकांश फारसी और अरबी के होते हैं। एक विशेष शिक्षा प्राप्त वर्ग के अतिरिक्त इस भाषा को कोई नहीं समझ सकता। लोगों की बोली हिन्दी है, हिन्दी में ही जमींदारों तथा व्यापारियों का हिसाब लिखा जाता है, और इसी भाषा में नियमित रूप से लोगों का निजी कारोबार चलाया जाता है, मेरी समझ में नहीं आता कि अदालतें एक कृत्रिम भाषा का प्रयोग क्यों करती चली आ

रही हैं—ऐसी कृत्रिम भाषा जो आसानी से गलत लिखी जा सकती है और गलत पढ़ी जा सकती है।"[१]

अतः जुलाई १८७५ में सरकार ने फिर एक परिपत्र संपूर्ण विभागीय अधिकारियों के पास भेजा ; परन्तु परिणाम कुछ भी न निकला। सरकारी आदेश की लगातार ऐसी अवहेलना अंग्रेजी राज में एक असाधारण बात थी ; परन्तु इस विषय में सरकार का अपना हित-अहित कुछ नहीं था। इसलिए, वह कड़ाई नहीं करनी चाहती थी। इसके अतिरिक्त अपने अमले के प्रति अंग्रेजी सरकार सामान्यतः उदारता बरतती थी ; परन्तु वह जनता के विशाल शिक्षित वर्ग की भावना को ठुकराना भी नहीं चाहती थी। जब उसने देखा कि आन्दोलन शिथिल नहीं हुआ ; बल्कि अधिक विस्तृत हो रहा है, तो बंगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर सर ऐशले को इस विषय पर विशेष ध्यान देना पड़ा। उन्होंने सोचा कि सरकारी आदेश का पूर्ण पालन तभी संभव हो सकेगा, जब केवल नागरी लिपि को सरकारी कागजों के लिए उपबन्धित कर दिया जायेगा ; अतः अप्रैल १८८० ई० में उन्होंने एक नया आदेश निकाला, जिसमें अफसरों तथा अमले को आज्ञा दी गयी कि जनवरी १८८१ से अदालत के सब कागज केवल नागरी लिपि में लिखे जायँ तथा जनता की ओर से जो कागज अदालतों में प्रेषित किये जायँ वे भी केवल इसी लिपि में हों। इस आदेश ने उर्दू को बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया। उसमें स्पष्ट शब्दों में अंकित था कि फारसी लिपि में कोई कागज न तो अदालतों से जारी किया जाय और न जनता से अदालतों में स्वीकार किया जाय। पुलिस अफसरों को आगाह कर दिया गया कि यदि वे जनवरी १८८१ तक नागरी लिखना-पढ़ना न सीखेंगे, तो उन्हें हटा दिया जायेगा और उनकी जगहें हिन्दी जानने वालों को दे दी जायेंगी।

पहले इस आदेश के प्रति भी टाल मटोल की गयी, परन्तु जब यह आभास होने लगा कि इस बार सरकार अपनी धमकी पर दृढ़ है, तो धीरे-धीरे उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि का स्थान हिन्दी तथा नागरी ने ले लिया। ऐसी परिस्थिति में मध्य प्रान्त की कचहरियों में भी हिन्दी का प्रचार १८८१ ई० से आरंभ हुआ। बिहार में हिन्दी तथा नागरी का प्रमुख विरोध करने वालों में से डा० ग्रियर्सन थे, जो उस समय मुंगेर के ज्वाइंट मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने जुलाई १८८२ के "कलकत्ता रिव्यू" में जो लेख लिखा था, उसका संक्षिप्त सार यह है :—

---

१. पत्रसंख्या १८२, बाँकीपुर २० मई, १८७५

१—जो भाषा हिन्दी कहलाती है, वह बिहार के ९० प्रतिशत लोगों की भाषा नहीं है।

२—किताबी हिन्दी तो सरकार के आदेश पर बनाई गयी थी, जब ६० य ७० वर्ष पहिले "प्रेम-सागर" लिखा गया था। यह बनावटी भाषा है ; यह तो सच है कि इसका प्रयोग वे हिन्दू करते हैं, जिनकी मातृभाषाएँ अलग-अलग हैं।

३—क्योंकि हिन्दी कोई भाषा नहीं है और क्योंकि यह सरकार के आदेश पर ६० या ७० वर्ष पूर्व बनाई गयी थी ; इसलिये इसे किसी भी हालत में अदालत या स्कूल के लिए न अपनाया जाय। बिहार में शिक्षा-विभाग ने हिन्दी को मान्यता देकर गलती की है। तुलसीदास की ब्रजभाषा, जो बिहार में उच्च कक्षाओं में पढ़ाई जाती है, बिहार के लिए गैर भाषा है।

४—हिन्दी में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो मुसलमान नहीं समझ सकते।

ग्रीयर्सन ने शिक्षा-आयोग के सामने भी इन्हीं तर्कों को दोहराया और यह सुझाव दिया कि बिहार की अदालतों तथा स्कूलों में निम्न बोलियों में से किसी एक को अपनाया जाय—अवध की बैसवाड़ी, बनारस की गनवाडी, तिरहुत की मैथिली, दक्षिण बिहार की मागधी, पश्चिमी बिहार की भोजपुरी। उनकी पूरी बहस इस धारणा पर आधारित थी कि किसी प्रान्त की अदालतों तथा शिक्षा संस्थाओं में वहीं की किसी बोली को माध्यम बनाना उचित और व्यावहारिक होगा। उन्होंने यह तक कह डाला कि पाठशालाओं से हिन्दी को बिल्कुल हटा दिया जाय।

मुंगेर के ही एक अन्य अंग्रेज अधिकारी, जान-क्राइस्ट ने, जो हिन्दी के पक्षपाती थे, (वह हिन्दी के कवि भी थे) नागरी लिपि की भूरि-भूरि प्रशंसा करने के बाद उसका विरोध किया। उनकी दलील यह थी—"देवनागरी हिन्दुओं की सम्मानित लिपि है (जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है), और मैं कह सकता हूँ कि मानव के मस्तिष्क से निकली हुई वर्णमालाओं में यह सबसे अधिक पूर्ण वर्णमाला है ; परन्तु यह उतनी तेजी के साथ नहीं लिखी जा सकती, जितनी तेजी से कैथी लिखी जा सकती है।

'रोमन' लिपि एक विदेशी वर्णमाला है। इसे लोग कभी पसंद नहीं करेंगे। फारसी लिपि दरिद्र है और अदालती काम के लिए उपयुक्त नहीं है। कैथी ही एक ऐसी लिपि है, जो सर्वत्र प्रचलित है। कैथी में लोग अपना हिसाब-किताब लिखते

हैं, इसी में वे पत्र-व्यवहार करते हैं। इसका लिखना आसान है ; अतः अदालतों में इसी का प्रयोग होना चाहिये।"[1]

बिहार के जन-समूह की बोली तथा सामान्यतः प्रचलित लिपि की वकालत करने वाले सज्जनों का इरादा भले ही शुभ रहा हो, उनकी दृष्टि से उस समय वह संपूर्ण पृष्ठभूमि ओझिल हो गयी, जिसने खड़ीबोली को संपूर्ण उत्तर भारत की भाषा बना दिया था। पश्चिमोत्तर प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के भी केवल एक भाग में खड़ी-बोली बोली जाती थी, फिर भी वह संपूर्ण प्रान्त की भाषा मानी जाने लगी थी। इस प्रान्त की विभिन्न बोलियों की भाँति बिहार के तथाकथित हिन्दी-भाषी क्षेत्र में तीन विशेष बोलियाँ थीं—भोजपुरी, मागधी तथा तिरहुती। इन बोलियों तथा कैथी लिपि के व्यापक प्रचार से इस वास्तविकता का निराकरण तो नहीं हो सकता था कि हिन्दी को नागरिक भाषा के रूप में मान लिया गया था तथा अदालती स्तर व ऐसे अन्य स्तरों पर बोलचाल तक में हिन्दी या उर्दू भाषा का प्रयोग होता था। इस तथ्य को आयोग के सामने एक गवाह, शिवनन्दनलाल राय ने इन शब्दों में रखा—"बिहार की बोलचाल की भाषा हिन्दी नहीं है, वह भाषा हिन्दी का अपभ्रंश है।"

भागलपुर डिवीजन के शिक्षा इन्सपेक्टर, राधिका प्रसन्न मुकर्जी ने डाक्टर ग्रीयर्सन की आपत्तियों का विस्तार से उत्तर दिया . (जो शिक्षा-आयोग के प्रतिवेदन में उद्धृत है)। उन्होंने हिन्दी का समर्थन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया। उन्होंने कहा:—

"यह कहना गलत है कि 'प्रेम-सागर' से पहले हिन्दी थी ही नहीं।"

शतियों से बंगाली और हिन्दी में काव्य-साहित्य की खाने मौजूद हैं। यदि वर्त-मान काल में हिन्दी ने बंगाली के बराबर उन्नति नहीं की है, तो इसका कारण यह है कि चालीस वर्ष से अधिक हुए बंगाली, फ़ारसी से छुटकारा पाकर कचहरियों की भाषा मान ली गयी थी, परन्तु हिन्दी सरकार के बारंबार प्रयत्न के बावजूद भी कचहरी से बाहर है।

"यदि हिन्दी साधारण बोलचाल की बोली से भिन्न है, तो इसमें अचंभे की क्या बात है। मैं अधिकृत रूप से यह कह सकता हूँ कि जर्मन, अंग्रेजी तथा इटैलियन भाषाओं के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

---

१. जान काइस्ट का पत्र तिथि २१ मार्च १८८२, आयोग की (बंगाल समिति) के प्रतिवेदन के पृ० ३९८ पर उद्धरित।

"फिर बिहार के हिन्दुओं की बनारस तथा लखनऊ के इर्द-गिर्द के प्रदेश की भाषा तथा संस्कृति के प्रति श्रद्धा है।

"वह कौन-सी हिन्दी है, जो सरकार अदालतों तथा स्कूलों के लिए अंगीकार करना चाहती है? जहाँ तक बिहार का प्रश्न है, यह भाषा वह बोली होनी चाहिए, जो बनारस की बोली से मिलती-जुलती है। यदि अदालती कार्यवाही इस बोली में होगी तो बिहार का कोई भी व्यक्ति, जिसने प्राथमिक शिक्षा पाई है, उसे समझ लेगा। जर्मनी में जर्मन राज-भाषा का जो रूप है, वही उत्तरी भारत में हिन्दी का है।

"यह दलील कि साहित्यिक भाषा के बजाय किसी देहाती बोली को, जिसमें कोई साहित्य नहीं है, अदालती या स्कूली भाषा बनाया जाय, कुछ अजीब मालूम होती है। अंग्रेजी पत्र 'फार्टनायटली रिव्यू' में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह अंग्रेजी बोली नहीं है, जो उच्च वर्ग के अंग्रेज भी घर में बोलते हैं। प्रोफेसर मैक्समुलर ने इस विषय में कहा है—'इस साहित्यिक युग में हम (शिक्षित लोग) भी घर पर जो बोली बोलते हैं, वह उस भाषा से भिन्न है, जिसका प्रयोग हम सार्वजनिक स्थान में करते हैं। एक राष्ट्रीय भाषा की उत्पत्ति से पूर्व सैकड़ों बोलियाँ, कस्बों, ग्रामों, जाति समूहों तथा परिवारों में सदैव से बोली जाती रही हैं। यद्यपि प्रगति तथा सभ्यता के साथ बोलियों की संख्या घट रही है, फिर भी बहुत-सी बोलियाँ अब भी प्रचलित हैं।'

एक बृहत अंग्रेजी शब्दकोश के संपादक का कथन है—"हम लोग जो अंग्रेजी भाषा बोलते हैं, उसमें एकरूपता नहीं है। ब्रिटेन के प्रत्येक कस्बा मंडली की अपनी अलग स्थानीय बोली है, जिसके शब्दों तथा वाक्य-रचना की अपनी अलग विशेषता है; यह बोली छोटे वर्गों के जन साधारण बोलते हैं।"

इन बलशाली तर्कों के साथ श्री मुकर्जी ने अपील की कि भाषा के विषय में यह अनुपात निर्णायक नहीं होना चाहिये कि १० प्रतिशत लोग कौन-सी भाषा बोलते हैं तथा ९० प्रति शत कौन-सी बोली का प्रयोग करते हैं। अदालतों तथा स्कूलों में उसी भाषा का प्रयोग होना चाहिये, जिसमें व्यापक रूप से अन्तरक्षेत्रीय भाषा बनने की क्षमता है और जो साहित्यिक भाषा है। उन्होंने कहा कि हिन्दी तथा नागरी को मान्यता मिलने से जनता की बहुमूल्य सेवा हुई है।

इन सज्जनों के आग्रह के कारण बिहार में पुनः भाषा और लिपि-परिवर्तन नहीं हुआ। और न स्कूलों से ही हिन्दी तथा नागरी बहिष्कृत हुई।

अध्याय ५

फारसी-पूरित उर्दू

पश्चिमोत्तर प्रान्त में (जिसमें आज के उत्तर प्रदेश के आगरा, इलाहाबाद, बनारस, मेरठ, रुहेलखण्ड डिवीजनों के अतिरिक्त दिल्ली, सागर जबलपुर और अजमेर भी सम्मिलित थे) उर्दू पूर्ववत जारी रही। सन् १८३७ के आदेश का उद्देश्य यह था कि फारसी के बजाय जनभाषा को अदालती कार्यवाही की भाषा बनाया जाय। परन्तु अहलकार लोग जो उर्दू भाषा लिखते थे, वह फारसी के शब्दों से इतनी अधिक लदी हुई होती थी कि उसका समझना प्रायः उतना ही कठिन होता था, जितना फारसी का। उन्होंने आदेश का उद्देश्य ही निष्फल कर दिया था। जहाँ तहाँ इसकी चर्चा होने लगी। तब सरकार ने २८ अगस्त सन् १८४० ई० को एक आज्ञापत्र जारी किया, जिसमें कहा गया कि "फारसी-पूरित उर्दू न लिखी जाय, बल्कि ऐसी भाषा लिखी जाये, जो एक कुलीन हिन्दुस्तानी, फारसी से पूर्णतया अनभिज्ञ रहने पर भी बोलता है।

इस आज्ञापत्र का पालन नहीं हुआ, और अदालतों में उसी उर्दू का प्रयोग जारी रहा, जो फारसी जानने वाले ही समझ सकते थे। वास्तव में अहलकार लोग फारसी-पूरित भाषा लिखने के अभ्यस्त हो गये। व्यावहारिक रूप में स्थिति यह थी कि अदालती भाषा जन-साधारण की भाषा नहीं थी। इस तथ्य से यह विचार पैदा हुआ कि जन-साधारण की भाषा हिन्दी है, न कि अदालती उर्दू। स्वयं अंग्रेज अधिकारी-गण इसका प्रतिपादन करने लगे। पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार के मंत्री ने १७ अगस्त १८४४ को अपने एक पत्र में, जो उन्होंने आगरा कालेज के प्रिंसिपल को लिखा था, यह स्वीकार किया कि "यहाँ की देशी भाषा हिन्दी है।" स्कूलों के डाइरेक्टर-जेनरल ने भी अपने १८४४–४५ ई० के विभागीय विवरण में अंगीकार किया कि "हिन्दी सबसे अधिक प्रचलित भाषा है।"

इस स्पष्टवादिता से प्रचलित भाषा को उसका उचित अधिकार तो नहीं मिला, परन्तु अदालती भाषा के विदेशी रूप के विरुद्ध शिकायतें जारी रहीं, और ९ मई १८५४ ई० को सरकार ने फिर अपने दफ्तरों के अफसरों को चेतावनी दी

कि सरकारी कागज सर्वसाधारण की भाषा में लिखे जायं। बाईस वर्ष बाद फिर यह आदेश दुहराया गया, परन्तु परिणाम कुछ नहीं हुआ ।

स्वयं अंग्रेज विद्वानों ने इस परम्परा की निन्दा की। ग्राउस ने लिखा कि "आजकल की कचहरी की भाषा वड़ी कष्टदायक है, क्योंकि एक तो यह विदेशी है, और दूसरे इसे भारतवासियों का अधिकांश भाग नहीं जानता। ऐसे शिक्षित हिन्दुओं का मिलना कठिन नहीं है जो स्वतः इस बात को स्वीकार करेंगे कि कचहरी के मुन्शियों की बोली को वे अच्छी तरह नहीं समझ सकते, और उसे लिखने में तो वे निपट असमर्थ हैं। इसका बड़ा भारी प्रमाण यह है कि कानूनों और गश्ती चिट्ठियों के सरकारी भाषानुवाद को तबतक कोई भी भलीभांति नहीं समझ सकता जब तक कोई व्यक्ति अंग्रेजी से मिलाकर उन्हें न समझा दे। एक अन्य अंग्रेज—फेड्रिक पिनकाट—ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये—"जिन भारतवासियों की यह मातृभाषा बताई जाती है, उन्हें इसे अंग्रेजी की तरह स्कूलों में सीखना पड़ता है। और भारतवर्ष में यह विचित्र दृश्य दिखलाई देता है कि राजा और प्रजा दोनों अपना व्यवहार ऐसी भाषा द्वारा करते हैं, जो दोनों में से एक की भी मातृ-भाषा नहीं है।"

हिन्दी का यह स्वाभाविक अधिकार तो था ही कि उसे सरकारी भाषा के रूप में अपनाया जाय; फिर भी विभिन्न तर्कों से उसके पक्ष को योग दिया जा रहा था। उच्चारण के अनुसार लिखित लिपियों में नागरी को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। इस सत्य को यूरोप के विद्वानों ने सराहना के साथ स्वीकार किया। प्रोफेसर मोनियर विलियम्स ने कहा कि—"स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि देवनागरी अक्षरों से बढ़कर पूर्ण और उत्तम अक्षर दूसरे नहीं हैं।" आइजक पिटमैन इस निर्णय पर पहुंचे कि "संसार में यदि कोई सर्वांगपूर्ण अक्षर हैं तो देवनागरी के हैं।"

बम्बई हाईकोर्ट के मुख्य न्यायमूर्ति सर आर्सकिन पेरी ने" नोट्स टु ओरियन्टल केसेज" की भूमिका में लिखा कि "एक लिखित लिपि की सर्वांगपूर्णता इसी से जान पड़ती है कि प्रत्येक शब्द का उच्चारण उसे देखने से ही ज्ञात हो जाय और यह गुण भारत के अन्य अक्षरों की अपेक्षा देवनागरी अक्षरों में अधिक पाया जाता है। इस कारण जिस भाषा का पढ़ना सीखने में यूरोप में कई वर्ष लग जाते हैं वह भारत में बहुधा तीन मास में ही आ जाती है।"

अचम्भे की बात यह है कि एक सर्वमान्य सर्वोत्तम लिपि को उसके अपने ही घर में आश्रय तो दिया ही नहीं गया, बल्कि कई बार यह सुझाव भी दिया गया कि

हिन्दी (या उर्दू) भाषा के लिए रोमन लिपि का (जिसमें अंग्रेजी लिखी जाती है) प्रयोग किया जाय। सबसे पहिले यह सुझाव उस समय विवाद के रूप में प्रकट हुआ जब १९वीं शती के तीसरे दशक में फारसी के स्थान पर देशी भाषाओं को आसीन करने के प्रस्ताव पर विचार हो रहा था। इस सुझाव का विरोध हुआ। सरकार ने विचारशीलता से काम लिया और सुझाव को अस्वीकृत कर दिया।

सन् १८५६ ई० में उसने आज्ञा जारी की माल विभाग के कर्मचारी, तहसीलदार आदि (जो उर्दू भली-भाँति जानते थे) नागरी का अक्षर-ज्ञान भी प्राप्त करें। उनके लिये एक परीक्षा पास करना अनिवार्य कर दिया गया, और उनसे यह भी कहा गया कि यदि वे आदेश का पालन न करेंगे, तो उन्हें नौकरी से हटा दिया जायेगा। इस आदेश का वांछित फल हुआ और हिन्दू मुसलमान सभी अहलकारों ने नागरी लिखना पढ़ना सीख लिया।[1] परन्तु आदेश पूर्णतया कार्यान्वित भी न हो पाया था कि सन् १८५७ की क्रांति आ गयी, और प्रशासन-व्यवस्था में एक भीषण बवण्डर पैदा हो गया। क्रान्ति के दमन कर दिये जाने के पश्चात् सरकार की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो गया। वह अपनी शक्ति बढ़ाने में लग गयी; आन्दोलनकारी भी चुप होकर बैठ गये। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो नागरी विषयक आदेश जारी ही नहीं हुआ था।

क्रान्ति के कुछ वर्ष बाद हिन्दी की चर्चा पुनः आरंभ हुई। बंगाल के प्रमुख राजनीतिक नेता, डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के पत्र में (सन् १८६४) अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया—"भारत की भाषाओं में हिन्दी सबसे प्रधान है। बिहार से सुलेमान पहाड़ तक तथा विन्ध्याचल से हिमालय की तराई तक सभ्य हिन्दू जाति की यही मातृभाषा है। गोरखा जाति ने इसका कमायूँ और नेपाल में भी प्रचार कर दिया है, और यह भाषा पेशावर से आसाम तक और काश्मीर से कन्याकुमारी तक सब स्थानों में भली-भांति समझी जासकती है।"

सरकार हिन्दी के पक्ष की प्रबल दलीलों से प्रभावित तो प्रतीत होती थी और उसने सन् १८५४ ई० में यह आदेश भी दे दिया था कि "पटवारियों के कागजात हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि में लिखें जाएँ" परन्तु उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं हो रहा था। अंग्रेजी शासन का अनुशासन और दबदबा उच्चकोटि का माना जाता था, परन्तु न जाने क्यों उसने इस मामले में आज्ञा-पालन का आग्रह नहीं किया। संभव है, इसका कारण यह हो कि सरकारी अमले का विशाल भाग उर्दू का

---

१. भारतमित्र १७ अगस्त १८९२

अभ्यस्त होने के कारण प्रस्तावित परिवर्तन के लिए अपने को अयोग्य समझता था। अंग्रेजी सरकार की यह नीति थी कि भाषा, धर्म आदि के मामले में प्रचलित रीति-रिवाज में ऐसा हस्तक्षेप न किया जाय, जिससे व्यावहारिक जीवन में खलबली पैदा हो जाय। और सच तो यह कि वह अपने अमले को असन्तुष्ट नहीं करना चाहती थी।

दूसरी ओर हिन्दी के समर्थकों की ओर से कोई ऐसा आन्दोलन भी नहीं हो रहा था ; जिससे सार्वजनिक असंतोष का कोई चिन्ताजनक आभास मिले। हिन्दी-भाषा तथा नागरी लिपि की माँग व्यक्तिगत प्रदर्शन तक सीमित थी। शिक्षित तथा योग्य व्यक्ति अति नम्रता से कभी-कभी औचित्य की माँग करते थे ; उनकी आवाज या लेखनी के पीछे लाखों, बल्कि करोड़ों लोगों का मूक अनुमोदन अवश्य था, परन्तु आन्दोलन की भावना नहीं थी। इन व्यक्तियों में प्रमुख राजा शिवप्रसाद थे। उन्होंने अति चतुराई के साथ इस प्रश्न को उठाया। उन्होंने कहा कि भाषा सादी हो ; परन्तु उसकी लिपि नागरी होनी चाहिये। उन्हें विश्वास था कि यदि नागरी को अंगीकार कर लिया जायगा, तो (फारसी मिश्रित) उर्दू के बजाय (संस्कृत आधारित) हिन्दी धीरे-धीरे अदालती भाषा स्वतः हो जायगी ; परन्तु उनके समकालीन अन्य व्यक्ति हिन्दी तथा नागरी दोनों की माँग एक साथ कर रहे थे। जब सरकार की ओर से कोई आशाजनक प्रतिक्रिया नहीं हुई, तो राजा शिव प्रसाद ने खिन्न होकर कहा कि यदि हिन्दी के हिमायती उसकी नीति या कार्यपटुता के अनुसार अपनी माँग को सीमित करके प्रस्तुत करते, तो स्वीकृति प्राप्त करना दुष्कर कार्य न होता, क्योंकि उस दशा में उर्दू-समर्थकों का विरोध कम से कम आधा हो जाता। उर्दू जानने वालों को केवल नये अक्षर सीखने पड़ते, नयी भाषा नहीं। उनका व्यक्तिगत आन्दोलन इस नीति की परिधि में सीमित था। उन्होंने अपने 'मेमोरैण्डम आन कोर्ट कैरेक्टर' में नागरी अक्षरों के प्रचार की सम्मति देने के अतिरिक्त यह भी कहा कि "अर्धफारसी भाषा, उर्दू को जनसमूह पर लाद कर सरकार वह कृत्य कर रही है, जो मुस्लिम सम्राटों ने भी नहीं किया था" अर्थात् उनके प्रशासन में हिन्दी का स्थान सुरक्षित था। शिवप्रसाद की नीति के अधीन सरकार को एक अभ्यर्थना-पत्र दिया गया। यह प्रार्थना की गयी कि कचहरियों और दफ्तरों में नागरी अक्षरों का प्रचार किया जाय। सरकार के पास अभ्यर्थना-पत्र को अस्वीकृत करने का कोई तार्किक उत्तर नहीं था ; अतः उसने (१८७४ ई० में) यह जवाब दिया कि प्रार्थना-पत्र पर यथावसर भलीभाँति विचार किया जायेगा।

राजा शिवप्रसाद ने राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न अति उत्साह से उठाया था,

परन्तु उनके विचारों के प्रति स्वयं हिन्दी-समर्थकों में विरोध पैदा हो गया। वे उस काल के उन चन्द व्यक्तियों में थे, जो हिन्दी का आन्दोलन विधिवत चलाना चाहते थे और जिन्हें सरकार का विश्वास भी प्राप्त था। परन्तु, जो हिन्दी वह लिखते थे और जो रूप वह हिन्दी को देना चाहते थे, उसको मान लेने का अर्थ यह होता कि भाषा उर्दू होती और लिपि नागरी। उनकी हिन्दी का नमूना यह है:—"बाबर बेशक एशिया के अच्छे बादशाहों में था, अच्छा क्या यह तो कोई अजीब बुजुर्ग हो गुजरा। सजा बड़ी देता था। पर बेसबब कभी किसी को नहीं सताता था। अपना सारा हाल अपने हाथ से एक तुर्की किताब में लिख गया है। लाइक देखने के है।"[1] हिन्दी कैसी होनी चाहिए इसका उत्तर उन्होंने इन शब्दों में दिया —"हम लोगों को जहां तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिये जो कि आमफ़हम और खास पसंद हों! अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं। जहां तक बन पड़े हम लोगों को हरगिज ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिये और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नये नये शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिये जबकि हम लोगों को उनके जारी करने की जरूरत न साबित हो जाय।"[2] यदि कुछ सहानुभूति से राजा शिवप्रसाद की भाषा को देखा जाय, तो वह मनोवृत्ति तथा ऐतिहासिक घटनाचक्र, जो पृष्ठभूमि में था, समझ में आ जायेगा। उस समय बहुत-से शिक्षित व्यक्ति, विशेषकर वे जिनका सम्बन्ध सरकारी दफ्तरों से था, बोल-चाल तथा लिखने में उन शब्दों का प्रयोग करते थे, जो कचहरियों तथा अन्य दफ्तरों में प्रयोग में लाये जाते थे। वे शब्द जहाँ-तहाँ प्रचलित थे। ऐसे वाक्य कि "जबान आमफ़हम होनी चाहिये" आज कुछ अद्भुत से लगते हैं, परन्तु वे उस समय के शिक्षित समाज का, जिसमें फारसी का ज्ञान प्रायः आवश्यक था, एक अंग बन गये थे। परन्तु हिन्दी-समर्थकों को राजा शिवप्रसाद के दृष्टिकोण से मत-भेद होना स्वाभाविक था। उर्दू के विषय में समर्थकों की आलोचना यह थी कि उसको केवल फारसी के शब्दों से साहित्य की या सरकारी प्रयोग की भाषा बनाया गया है; अर्थात् उसकी रचना में एक बड़ा अंश फारसी का है। उनका आग्रह यह था कि "आमफ़हम" जैसे शब्द स्वयं साधारण लोगों में नहीं समझे जा सकते। राजा के विरोधियों के विरोध में पर्याप्त तर्क था। वे कहते थे कि जिस हिन्दी का प्रयोग सैकड़ों वर्षों से चल रहा है, उसको "आमफ़हम" के लिए विकृत न किया जाय;

---

१. 'इतिहास तिमिर नाशक', भाग ३

२. शिवप्रसाद 'भाषा का इतिहास', 'हिन्दी भाषा सार', पृ० ५९

यदि ऐसा किया गया, तो वह देशी भाषा न रहेगी, बल्कि फारसी का विकृत रूप बन जायेगी।

जिस हिन्दी के लिए भारत के अहिन्दी प्रान्तों तथा विदेश के शिक्षित लोग भी वकालत कर रहे थे वह फारसी आधारित हिन्दी नहीं बल्कि संस्कृत आधारित हिन्दी थी।

शतियों के राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक संघर्षों से भारत के विभिन्न प्रान्तों की भाषाओं में संस्कृत के शब्दों का विशेषकर और हिन्दी के शब्दों का कुछ कुछ समावेश हो गया था। हिन्दी—संस्कृत आधारित हिन्दी—उन भाषाओं के निकट थी; उर्दू या वह भाषा जो राजा शिव प्रसाद लिखते या पसंद करते थे दूर थी।

इसी हिन्दी का प्रतिपादन करते हुए "बंगाल मैगजीन" ने १८७४ ई० में लिखा—"उर्दू भारत के किसी देश या जाति की भाषा नहीं है, अंग्रेज अफसरों तथा उनके अति विशिष्ट भारतीय मित्रों तथा प्रशंसकों की भले ही हो। यदि भारत की किसी भाषा को सर्वसाधारण की भाषा माना जाय तो वह हिन्दी है। यह संपूर्ण उत्तरी भारत में बोली जाती है, और बंगाल तथा बम्बई प्रान्तों में भी सुगमता से समझी जाती है, क्योंकि इन प्रान्तों की भाषाएँ उससे बहुत कम भिन्न हैं। तथापि हिन्दी वह भाषा है जिसको कुचलने में तथा जिसका गला घोटने में सरकार भरसक योग दे रही है। उर्दू के पक्ष में केवल यही कहा जा सकता है कि वह अदालत की भाषा है और अमला इसे समझता है। परन्तु जहाँ तक लोगों का सम्बन्ध है, जिनके लिए अदालतें बनी हैं, वे इस भाषा (उर्दू) से वैसे ही अनभिज्ञ हैं जैसे अंग्रेजी से। उत्तरी भारत के कायस्थ, जो सरकारी नौकरों की संख्या में अधिकांश हैं, और दिल्ली, आगरा और लखनऊ जैसे बड़े नगरों के उच्चवर्गीय मुसलमान उर्दू बोलते हैं, पर जन साधारण चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान इससे पूर्णतया अनभिज्ञ है।"

सन् १८७५ ई० में, अमेरिका के एक विद्वान् ईसाई धर्मप्रचारक, रेवरेन्ड (मान्य) एस० एच० केलाग ने, जो उस समय भारत में थे, हिन्दी व्याकरण की एक वृहत् पुस्तक लिखी, जो इलाहाबाद से प्रकाशित की गयी। पुस्तक की प्रस्तावना में उन्होंने हिन्दी के विषय में यह लिखा :—

> "भारत के २५ करोड़ लोगों में, जो २० से अधिक विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं, चौथाई भाग की, अर्थात् ६-७ करोड़ की भाषा हिन्दी है। शायद यह अनुमान कम है। मिस्टर कस्ट ने अपनी पुस्तक 'पूर्वी देशों की आधुनिक

भाषाएँ' में लिखा है कि[3] "भारत की हिन्दी भाषी जनसंख्या आठ करोड़ से कम नहीं हो सकती।" यदि इसमें फारसी रंजित हिन्दी को भी शामिल कर लिया जाय (जो उर्दू या हिन्दुस्तानी कहलाती है और जिसकी आधारभूत शिला हिन्दी है) तब तो हिन्दी को दस करोड़ लोगों का भाषा मानना पड़ेगा। यह भाषा चीनी भाषा को छोड़कर विश्व की भाषाओं में सबसे अधिक लोगों की भाषा है।"

केलाग ने अपनी प्रस्तावना में आगे लिखा है कि भारत के २,४८,००० वर्ग मील के भूखंड में हिन्दी एक विशाल जनसमूह की भाषा है। फिर भी सरकार ने इसे क्यों नहीं अपनाया? केलाग के अनुसार इसका कारण यह था—"एक तो सरकार ने उर्दू को दफ्तरी भाषा मान लिया है; दूसरे हिन्दी में व्याकरण की कोई ऐसी पुस्तक नहीं है जिसकी सहायता से साहित्यिक हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया जा सके। इस कमी के कारण यूरोपीय लोग हिन्दी को छोड़कर उर्दू की ओर झुक गये जो अधिक प्रचलित थी और जिसे सीखने के साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। उस समय सरकार देशी भाषाओं में विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए यूरोपीय अफसरों को पुरस्कार आदि देती थी, परन्तु बहुत से अफसर तुलसीकृत रामायण में प्रवीणता प्राप्त करने के बजाय अरबी तथा फारसी को अधिक पसंद करते थे।"

स्वयं पश्चिमोत्तर प्रान्त की सरकार के शिक्षा निर्देशक ने शिक्षा विभाग के १८७७–७८ के प्रतिवेदन में यह मत व्यक्त किया कि "वास्तव में हिन्दी ही इस प्रान्त की भाषा है।" प्रतिवेदन में यह कहा गया कि स्कूलों में ७१ प्रतिशत लड़के हिन्दी पढ़ना पसन्द करते हैं।

इस दलील की सरकार पर उलटी प्रतिक्रिया हुई। सन् १८७७ में पश्चिमोत्तर प्रान्त की सरकार ने यह आदेश जारी किया कि जिस व्यक्ति ने उर्दू या फारसी में ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास न की हो वह किसी दफ्तर में दस रुपये या उससे अधिक वेतन की जगह नियुक्त न किया जाय, चाहे उस दफ्तर में केवल अंग्रेजी की ही आवश्यकता हो। सन् १८७८ में दूसरा आदेश यह दिया गया कि मिडिल परीक्षा का सर्टीफिकेट (प्रमाणपत्र) प्राप्त करने के लिए प्रत्येक परीक्षार्थी को कम से कम द्वितीय भाषा के रूप में उर्दू का साधारण ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा;

---

१. Per S. H. Killog, D. D., F. L. D.

२. A Grammar of the Hindi Language

३. Modern Languages of East India, P. 46

बिना इस ज्ञान के किसी शिक्षार्थी को सर्टीफिकेट नहीं दिया जायेगा। इस आदेश में अपमानजनक बात यह थी कि उर्दू के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी किसी रूप में अनिवार्य नहीं की गयी। हिन्दी-आंदोलनकारियों तथा समर्थकों में रोष का वातावरण पैदा हो गया; वे तो यह आशा लगाये बैठे थे कि सरकार हिन्दी को भी अदालती काम के लिए मान्यता दे देगी, परन्तु उन्हें विपरीत फल मिला। आन्दोलन का वेग बढ़ा और यह माँग की गयी कि उन स्थानों में जहां हिन्दुओं की जनसंख्या कम से कम ६० प्रतिशत है, बच्चों को हिन्दी में शिक्षा दी जाय। इस माँग की पृष्ठभूमि में भय यह था कि कहीं सरकार के नये आदेश के परिणामस्वरूप हिन्दू माता-पिता भी अपने बच्चों को हिन्दी के बजाय उर्दू ही न पढ़ाने लगें। भय निराधार नहीं था। सन् १८७३-७४ में वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा के विद्यार्थियों में १३१५ हिन्दी के थे तथा ४३४ उर्दू के। सन् १८९५-९६ में उर्दू के विद्यार्थियों की संख्या बढ़कर २८१४ हो गयी और हिन्दी के विद्यार्थियों की घट कर ७८५ रह गयी।

प्रश्न साम्प्रदायिक नहीं बल्कि हिन्दी को जीवित रखने का था, परन्तु कुछ मुसलमान नेताओं ने (विशेषकर अलीगढ़, बुलन्दशहर, रुड़की तथा मेरठ के मुस्लिम निवासियों ने) सरकार के पास प्रतिनिधि मंडल भेजे और कहा कि "भारत के प्रत्येक वर्ण के लोग सैकड़ों वर्षों से फ़ारसी लिपि का प्रयोग कर रहे हैं। तथा ढाई सौ वर्षों से उर्दू इन प्रान्तों की जन-बोली है। नागरी में कठिनाई यह है कि उसके लिखने में अधिक समय लगता है।"[1] हिन्दुओं की ओर से यह उत्तर दिया गया कि जिन सैकड़ों वर्षों के प्रयोग की, प्रमाण के रूप में चर्चा की गयी है, वे हिन्दुओं की असहायावस्था के वर्ष थे; उन्हें मजबूर होकर फ़ारसी अक्षर तथा उर्दू को अपनाना पड़ा था। अब स्थिति भिन्न है। वर्तमान शासकों की भाषा न तो उर्दू है न हिन्दी; उन्हें जनता की सुविधा के अनुसार इन दोनों में से एक को चुनना है।

हिन्दी उर्दू विवाद बढ़ा, उसने ईर्ष्या तथा वैमनस्य का रूप ले लिया, और मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खां ने, शिक्षा आयोग के सामने गवाही देते हुए यह तक कह डाला कि "समाज की केवल छोटी श्रेणियों के लोग हिन्दी पढ़ते हैं या वे लोग जो व्यापार करते हैं।"

परन्तु सभी मुसलमानों में हिन्दी के प्रति द्वेष तथा भेदभाव नहीं था। उनमें

---

१. सन् १८८२ के शिक्षा-आयोग (पश्चिमोत्तर प्रान्त) का प्रतिवेदन, पृ० ४२१

ऐसे व्यक्ति भी थे जो तर्कसंगत विचार पसंद करते थे और जिनमें उन विचारों को व्यक्त करने का साहस भी था। उनके दो उदाहरण ये हैं—

(१) लाहौर के एक पत्र "रिफ़ार्मर" (१२ जून १८८२) में मियां हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल रज्जाक, नायब तहसीलदार, फ़तह-आबाद, ज़िला हिसार, ने लिखा था कि "उर्दू बोली की अपेक्षा हिन्दी भाषा बहुत सुगम है। जैसी उर्दू छः वर्ष में आती है, वैसी हिन्दी पंद्रह दिन में आ जाती है। इस देश की मातृभाषा हिन्दी सब को सीखनी चाहिए।"

(२) १९ अगस्त १८८२ के "पायोनियर" में प्रकाशित एक संवाद के अनुसार, सर सैयद अहमदखाँ के पुत्र सैयद महमूद (इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज) ने शिक्षा आयोग की एक बैठक में कहा कि "हिन्दी और उर्दू का विवाद एक कठिन विषय है। उर्दू की अपेक्षा हिन्दी का प्रचार चाहने वालों की संख्या बहुत अधिक है। मेरी समझ में उतना झगड़ा उर्दू तथा हिन्दी की भाषाओं का नहीं है जितना देवनागरी तथा उर्दू अक्षरों का है। यदि आयोग यह निश्चय करे कि पश्चिमोत्तर प्रान्त के स्कूलों में हिन्दी का अधिक प्रचार हो, तो मैं सच्चे मन से इसका अनुमोदन करूँगा।"

उस समय के हिन्दी-विरोधी उच्च वर्ग के मुसलमानों को मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक ओर वे लोग थे, जो अपने को भारतीयता के रंग में रँगने लगे थे, और दूसरी ओर वे थे जो अभी यह नहीं भूल पाये थे कि वे विदेश से आये हुए पूर्वजों की संतान हैं तथा फ़ारसी उनकी मातृभाषा थी जिसका अवशेष रूप उर्दू है। इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण बंगाल के तत्कालीन नेता अमीर अली की भाषा-सम्बन्धी मनोवृत्ति से मिलता है। वह बंगाली नहीं थे; उनकी मातृभाषा फ़ारसी थी और बोलचाल की भाषा उर्दू थी, परन्तु वह अपने को बंगाल के मुसलमानों का नेता समझते थे, उन मुसलमानों का जो पहले बंगला-भाषी हिन्दू थे। धर्म परिवर्तन से भाषा परिवर्तन तो हो नहीं जाता; अतः ये नये बंगाली मुसलमान बंगला ही बोलते रहे और उसी भाषा में शिक्षा भी पाते रहे। यह सर्वविदित सत्य है कि भारत की अन्य भाषाओं की भाँति बंगला को भी संस्कृत शब्दों से अधिक सम्पन्न किया गया है। अतः पाठशालाओं में पढ़ाई जाने वाली बंगला भाषा में संस्कृत शब्दों का आना स्वाभाविक था। अमीर अली ने संस्कृत शब्द-मिश्रण पर आपत्ति की और उसके स्थान पर फ़ारसी शब्दों के प्रयोग का सुझाव दिया। उन्होंने उर्दू की वकालत भी की और आयोग से कहा कि "मुसलमानों के लिए उर्दू का वही महत्त्व है जो हिन्दुओं के लिए बंगला का है; जहाँ तक उनका

प्रश्न है संस्कृत का स्थान फ़ारसी तथा अरबी को मिलना चाहिए।" उनके एक मित्र नवाब अब्दुल लतीफ खान बहादुर ने कहा कि मुसलमानों की बंगला वह भाषा है जिसमें फ़ारसी तथा अरबी के शब्दों का मिश्रण है। उन्होंने यह राय भी दी कि मुसलमान अपने समाज में तभी आदर पा सकते हैं और शिक्षित समझे जा सकते हैं जब उन्हें उर्दू की विशेष योग्यता हो, फारसी का अच्छा ज्ञान हो और अरबी की भी थोड़ी-बहुत जानकारी हो। उन्होंने साफ-साफ कहा कि उच्च तथा मध्यम वर्गों के मुसलमान अरबिया, ईरान तथा मध्य एशिया से आये हुए मुस्लिम विजेताओं की संतानें हैं।

इस प्रकार के तर्क आज मनोरंजक मालूम होते हैं जब स्वयं पूर्वी पाकिस्तान में मुसलमानों की ओर से बँगला भाषा को राज भाषा बनाने की मांग वर्षों से की जा रही है और सरकार को भी यह मानना पड़ा है कि पूर्वी पाकिस्तान की भाषा बंगला है; वहां के लोगों पर उर्दू नहीं लादी जा सकती। उक्त उद्धरणों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी के विरोध के पीछे तर्क नहीं था, बल्कि कुछ लोगों का व्यक्तिगत स्वार्थ था तथा संकुचित भावनाएं थीं।

सन् १८९६ में सरकार ने १८७७ का वह आदेश रद्द कर दिया जिसके अनुसार दस रुपये से अधिक की नौकरी के लिए उर्दू का ज्ञान अनिवार्य किया गया था।

अध्याय ६

आठवें दशक का आन्दोलन

उन्नीसवीं शती के आठवें दशक के आरंभ तक हिन्दी आन्दोलन की जड़ें मजबूत हो गयीं थीं। हिन्दी-भाषी शिक्षित जनता में जोश बढ़ता जा रहा था जिसका प्रदर्शन विभिन्न उपायों से किया जाता था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आन्दोलन को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की, और वह इसके प्रतीक और नेता माने जाने लगे।[1] उन्होंने सन् १८८२ ई० के शिक्षा आयोग के प्रश्नपत्र का विस्तृत उत्तर दिया जिसमें हिन्दी के विषय में निम्न उद्गार तथा सुझाव दिये—

"सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही ऐसा देश है जहां अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस, एक उर्दू में तथा एक हिन्दी में, लिखकर भेज दें तो आपको आसानी से मालूम हो जायेगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का अनुपात क्या है। जो सम्मन ज़िलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं उनमें हिन्दी का प्रयोग होने से रैयत और ज़मींदार को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब-किताब हिन्दी में रखते हैं। हिन्दुओं का निजी पत्र-व्यवहार भी हिन्दी में होता है, तथा स्त्रियां हिन्दी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के क़ागजात हिन्दी में लिखे जाते हैं और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिन्दी में शिक्षा देते हैं।

"मुझे यह जान कर बहुत खेद हुआ कि माननीय अहमद खां बहादुर, सी० एस० आई०, ने आयोग के सामने अपनी गवाही में कहा है कि सुसभ्य वर्ग की भाषा उर्दू है, और असभ्य ग्रामीणों की हिन्दी है। यह कथन ग़लत तो है ही, हिन्दुओं के प्रति अन्यायपूर्ण भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ कायस्थों को छोड़ कर, अन्य सब

---

१. उत्तर अँग्रेजी में है। अनुवाद लेखक ने किया है।

अर्थात् क्षेत्रीय महाजन, जमींदार, यहाँ तक कि आदरणीय ब्राह्मण भी जो हिन्दी बोलते हैं, असभ्य ग्रामीण हैं।......

"वे दिन लद चुके हैं जब ब्राह्मण और पंडित गायत्री भी फ़ारसी के माध्यम से सीखते थे।......

"हमारी सरकार का तर्कसिद्ध और न्यायोचित सिद्धांत यह है कि वह प्रजा के बहुसंख्यक लोगों की इच्छा के अनुसार काम करती है। फिर यह क्यों नहीं देखा जाता कि हिन्दी पढ़ने वाली जनता की तुलना में उर्दू पढ़ने वालों का क्या अनुपात है?......

"जन-गणना के आँकड़ों पर दृष्टि डालने से मेरे कथनकी और अधिक पुष्टि हो जायेगी। उनसे ज्ञात होगा कि उर्दू जानने वालों की तुलना में हिन्दी जानने वालों की संख्या अत्यधिक है। अभी तक इन तथ्यों की समीक्षा की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। यदि दिया होता तो यह विवाद बहुत पहले हमारे पक्ष में तय हो जाता।......

"यदि नागरी लिपि को सरकारी मान्यता मिल जाये तो पेशकार, सरिश्तेदार, मुहर्रिर आदि उस अवसर से पूर्णतया वंचित हो जायँगे जिसके द्वारा वे लूट-खसोट करते हैं। वे अनभिज्ञ व्यक्तियों को कुछ का कुछ पढ़ कर सुना देते हैं, और इस युक्ति से लिखित बात का तथ्य बदल देते हैं। फ़ारसी लिपि को, विशेषकर शिकस्त को, जिसके माध्यम से आजकल अदालती काम होता है, मुख्तारों, वकीलों तथा धूर्तों ने निश्चित आय का साधन बना लिया है।"

हिन्दी-आन्दोलन में विशेष योग हिन्दी के समाचारपत्रों ने दिया। निम्न उद्धरित टिप्पणियों से इस योग का कुछ आभास मिल जायेगा।

राधा चरण गोस्वामी द्वारा सम्पादित तथा मथुरा से प्रकाशित मासिक पत्र "भारतेन्दु" ने २० जुलाई, १८८३ ई० के अंक में लिखा—

"सरकार ने शहर की सफाई, वा और आवश्यक प्रबन्धों के लिए म्यूनीसिपल डिपार्टमेन्ट की सृष्टि की, और इसका यावत कार्यभार शहर के प्रतिष्ठित रईसों की एक कमेटी, म्यूनिसिपल कमेटी, के ऊपर रक्खा था। यह कहिये कि वह कमेटी प्रजा की प्रतिनिधि है—पर खेद की बात है कि हमारे अभागे पश्चिमोत्तर देश और अवध में इन कमेटियों में प्रजा के निज अक्षर देवनागरी और प्रजा की निज भाषा हिन्दी के जारी न होने से प्रजा को इस म्यूनीसिपल डिपार्टमेन्ट से कुछ भी लाभ नहीं होता, अतएव हम अपनी गवर्नमेन्ट से प्रार्थनापूर्वक निवेदन करते हैं कि म्यूनीसिपल डिपार्टमेन्ट में हिन्दी क्यों नहीं जारी की जाती?

"जहां तक देखा जाता है पश्चिमोत्तर देश और अवध में अधिकांश प्रजा नागरी अक्षर, और हिन्दी भाषा का व्यवहार करती है, तो फिर क्यों नहीं इस प्रजा-मूलक डिपार्टमेन्ट में प्रजा के अक्षर और भाषा जारी की जाती?—यदि हिन्दी में म्यूनीसिपल्टी का दफ्तर होता, यदि हिन्दी में म्यूनीसिपल्टी के अहकाम जारी होते, यदि हिन्दी में राय लिखना कानूनन वजा होता, यदि हिन्दी में म्यूनीसिपल्टी के आमद खर्च का हिसाब होता, तो निस्सन्देह हमारी म्यूनीसिपल्टियों की अच्छी दशा होती, पर उर्दू जारी रहने से ही यह महकमा दिन प्रति दिन पाताल को चला जाता है।

"इस डिपार्टमेन्ट में जो लोग महसूल देते हैं जैसाकि व्यापारी, महाजन, मुसाफिर व शहर के अधिवासी वह सब हिन्दी ही जानते हैं, पर उन्हें रसीद रवन्ना सब उर्दू में दिये जाते हैं, जिसे वे बिचारे कुछ नहीं समझते, और हर वक्त मुहर्रिर मुत्सद्दियों के हाथ से इसी सबब ठगे भी जाते हैं; तो बताइये, इस अन्याय का मूल बंद करना सरकार को उचित है या नहीं? यदि उचित है तो इस डिपार्टमेन्ट में हिन्दी जारी हो।

"जब कोई मकान मरम्मत करना या बनाना पड़ता है तभी म्यूनिसिपल्टी में दरख्वास्त देने की विधि है, इसमें कोर्ट फीस तो देनी ही पड़ती है, पर अर्जी भी उर्दू में हो, जिसमें जिल्लत के सिवाय दो आना हक तहरीर भी है।"

इस पत्र ने १६ सितम्बर, १८८३ ई० को लिखा—

"सरकार ने गुजरात में गुजराती, दक्षिण में मरहठी, मन्दराज में तामिल, और बिहार में उर्दू उठा कर अभी अभी कैथी जारी की है. . . पर हिन्दी को जो हाथ-पांव बांध कर अंधे कुएं में डालने का उद्योग हो रहा है इसका कारण?"

इसी पत्र ने ८ अगस्त, १८८४ ई० को लिखा—

". . . हम जब गम्भीर गवेषणा से विचारते हैं तो पश्चिमोत्तर और अवध में रेजिष्ट्रियों के न बढ़ने का मुख्य कारण यही है कि यहां उर्दू भाषा और फार्सी लिपि के बिना और किसी प्रकार के दस्तावेजों की रजिस्ट्री नहीं होती। उर्दू का यहां की कचहरियों में चलन आवश्यक है और फारसी वर्णमाला में यहां समग्र अदालतों की कार्यप्रणाली होती है; पर यहाँ की आबाल व्रज वनिता साधारण प्रजा उस भाषा और उन अक्षरों से ऐसी अज्ञान है, जैसे सूर्य पश्चिम में उदित होने से, कमल पत्थर पर प्रफुल्लित होने से, आकाश कुसुमित होने से और मरुभूमि श्री गंगा के बहने से। . . . इन देशवासियों की हिन्दी स्वाभाविक भाषा है, उर्दू अस्वाभाविक है, फिर भला उसमें लोगों की प्रवृत्ति कैसे हो? हम नहीं कहते कि हमारी

गवर्नमेन्ट की परम प्यारी दुलारी प्रजा दुःखकारी उर्दू में दस्तावेजात न लिखे जावें, हमारा वक्तव्य केवल इतना है कि हिन्दी में भी दस्तावेजात लिखने का आर्डर हो।"[1]

एक अन्य मासिक पत्र "हिन्दी प्रदीप" से भी, जो इलाहाबाद से प्रकाशित होता था और जिसके सम्पादक बालकृष्ण भट्ट थे, एक उद्धरण देना उपयुक्त होगा। सम्पादक ने अपने पत्र के १ फरवरी १८८६ ई० के अंक में लिखा था—

"काश्मीर से कुमारी और किराची से कोचीन तक के विस्तृत भूभाग में भारत्व निवोशित कर के प्रत्येक देशीय व्यक्ति में भ्रातत्व समझा जाने लगा है—बहुत ठीक—परन्तु हम पूछते हैं भला इस सब का कारण क्या है? क्या पहले भी ऐसा था?—पचास वर्ष पहले हम लोगों की यह दशा थी ऐसा तो कभी नहीं कहा जा सकता परन्तु ऊपर के प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में यही कहेंगे कि जब से इस विश्व-व्यापिनी अंग्रेज़ी शिक्षा का संचार देश में हुआ तभी से यह नवीन शाका चला और सभी को इसके उत्तर में हाँ कर के सन्तोष कर लेना पड़ेगा।

"उनकी हाँ में हाँ मिला कर हम भी यही कहते हैं कि निस्सन्देह इसी भाषा की शिक्षा का यह फल है—इसी से इस भारत भूमि के देश-देशान्तरों के वासियों में एक प्रकार के विचार और भाव उत्पन्न हुए हैं. . .'जातीय गौरव' यह एक पद है जो आजकल अंग्रेज़ी सहित संस्कृत जानने वालों की बोली और लेखों में प्रायः बरता जाता है।. . .भाव हमारे कथन का यह है कि जो कुछ अपने सांसारिक स्वरूप का ज्ञान हम लोगों को इस समय में हुआ है बहुधा अंग्रेजी के प्रसाद से कहा जा सकता है—और इसी बोली के द्वारा भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न देशों के निवासी परस्पर भाव प्रकाश करते हैं।

"परन्तु जब कि हम और और विषयों में भारतवर्ष में ममता रखते हैं और उसे एक ही देश मानते हैं तो क्या आश्चर्य वरन् उपहास की बात नहीं है कि यहां कोई भाषा ऐसी एक नहीं जिसे सम्पूर्ण देश अपनी कह सके। क्या भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग मिल कर कह सकते हैं कि हम सभी की अमुक एक भाषा है।. . .

"यदि देश का कुछ भी अभिमान हमको है तो ऐसा उपाय शीघ्र करना चाहिये जिससे हमारी एक जातीय भाषा हो जाये।

---

१. अशुद्धियाँ ठीक नहीं की गयी हैं, उदाहरण को ज्यों का त्यों दे दिया गया है।

"यहां पर हमें इतना अवश्य कहना चाहिये था कि यद्यपि जातीय भाषा हम लोगों की कोई नहीं परन्तु जातीय अक्षर हैं—और जो कोई हमारी जातीय भाषा कभी होवेगी उसके अक्षर भी वे ही होने चाहिए जिसमें कि इस समय जातीयता है—वे अक्षर देवनागरी हैं—और भारतवर्ष की वर्तमान भाषाओं में एक भाषा ही ऐसी है, जो इन अक्षरों में लिखी जाती है और वह भाषा ईश्वर की कृपा से हिन्दी है—फिर यह भी है कि यह हिन्दी थोड़ी बहुत भारतवर्ष के सब भागों में बोली जाती है।

"इससे हमारी समझ में तो यही आता है कि यदि भारतवर्ष की कभी कोई जातीय भाषा होगी तो यही हमारी प्यारी सर्वगुण आगरी नागरी ही होगी—और यथार्थ में इसी को ऐसा बनने का अधिकार भी है।"[1]

हिन्दी के पक्षपाती पत्रों ने फ़ारसी लिपि की घसीट लिखावट के क्रूर उदाहरण देकर नागरी लिपि की तुलनात्मक व्यवहारकुशलता पर जनता तथा सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। वे बार बार लिखते थे कि "कचहरी की उर्दू में लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ जाता है, परन्तु देवनागरी अक्षरों में जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा जाता है।"[2] लाहौर के 'विद्या प्रकाश' मासिक पत्र के फ़रवरी १८८२ के अंक में एक मनोरंजक घटना प्रतिवेदित की गयी थी। घटना इस प्रकार थी—घिनिया[3] گھنیا नामक एक व्यक्ति की एक अपील अदालत के सामने पेश थी। वह घीता گھیتا के नाम से पुकारा गया। उसने यह समझ कर कि 'घीता' कोई अन्य व्यक्ति होगा, कोई उत्तर नहीं दिया। शाम तक इंतजार करने के बाद वह घर लौट गया। जब कई दिन उसे अपने मुक़दमे के बारे में कुछ पता नहीं चला, तो वह सरिश्तेदार से मिला और तब उसे मालूम हुआ कि हाजिर न होने के कारण उसकी अपील खारिज कर दी गयी।

कलकत्ता के 'भारत मित्र' के १७ अगस्त १८८२ के अंक से एक और घटना उद्धरित करने योग्य है। मुरादाबाद जिले के संभल नामक क़स्बे में एक मनुष्य रात को भला चंगा सोया, और प्रातः मृतक पाया गया। उसकी डाक्टरी परीक्षा हुई; पता चला कि 'सकते' से उसकी मृत्यु हुई है। इसकी सूचना उर्दू में मैजिस्ट्रेट

---

१. अशुद्धियाँ ठीक नहीं की गयी हैं। उद्धरण ज्यों का त्यों दे दिया गया है।

२. मेरठ देवनागरी प्रचारणी सभा का स्मृतिपत्र। शिक्षा: आयोग का प्रतिवेदन, पृ० ४८३-८४

को भेज दी गयी। मजिस्ट्रेट के दफ्तर में 'सकते से' का 'संखिये से' पढ़ा गया, और यह हुक्म हुआ कि पुलिस तहक़ीक़ात करे। पुलिस ने रिवाजी कार्यवाही शुरू की। मृतक के घर की एक स्त्री को खूब निर्दयता के साथ पीटा। स्त्री ने 'अपराध' स्वीकार कर लिया। पुलिस ने उसे संखिये की एक पुड़िया के साथ अदालत में पेश किया। मैजिस्ट्रेट के सामने उस स्त्री ने कोड़े की मार से उधड़ी हुई अपनी पीठ दिखलाई और कहा कि उसने भयवश अपराध स्वीकार कर लिया था। उसी समय मजिस्ट्रेट को यह भी पता चला कि 'सकते से' को 'संखिया से' पढ़ लिया गया है।

फ़ारसी लिपि की घसीट में, जिसमें स्वर चिन्ह के नुक्ते बहुधा छोड़ दिये जाते हैं, उक्त प्रकार की भूलें होती ही रहती थीं, और हिन्दी के पत्र हिन्दी समर्थन के आवेश में उनको प्रकाशित करते रहते थे जिससे कि उर्दू के रूप पर हास्यास्पद चर्चा होती रहे। उर्दू की इस भीषण कमी को जानने के बाद जालंधर के कमिश्नर कर्नल डेविस ने यह आदेश दिया कि प्रत्येक मुकदमें में वादी, प्रतिवादी तथा स्थान का नाम फारसी अक्षरों के अतिरिक्त नागरी में भी लिखा जाय।[1] इसी दृष्टि से गवर्नमेन्ट प्रेस, इलाहाबाद, ने यह निश्चय किया कि उर्दू की इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तकों में स्थानों आदि के नाम नागरी में छापे जायं। नुक्तों सहित स्वच्छ लिखने के बावजूद भी उर्दू के बहुत से शब्दों को कुछ का कुछ पढ़ा जा सकता है। जैसे चीन, चैन, चेन, सब में समान स्वर व्यंजन چين का प्रयोग होता है। मेरठ देवनागरी प्रचारिणी सभा तथा अन्य संस्थाओं और व्यक्तियों ने इस प्रकार के बहुत से दृष्टांत शिक्षा आयोग के सामने प्रस्तुत किये थे।

इस सभा की स्थापना और कार्य का श्रेय श्री गौरी दत्त को है जिन्होंने गांव गांव जा कर नागरी का प्रचार किया, और हिन्दी की बहुत सी पुस्तकों का प्रकाशन किया। उन्होंने हिन्दी के पक्ष को प्रबल बनाने के लिए नाटक का प्रयोग भी किया। उनके "नागरी और उर्दू का स्वांग" नाटक की उस समय बहुत चर्चा थी; दर्शकों ने उसे बहुत पसंद किया था।

सभा ने अपने स्मृतिपत्र में, जो उसने शिक्षा आयोग के सन्मुख प्रेषित किया था, हिन्दी के पक्ष में निम्न उद्धरित तक प्रेषित किये—"हिन्दी भाषा और उसकी बोली मे अब यही समझा जाता है कि हिन्दी भाषा में आधे से अधिक शब्द संस्कृत के होते हैं और वह देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती है। उर्दू बोली में आधे से अधिक फारसी और अरबी के शब्द बोले जाते हैं और वह फारसी और अरबी अक्षरों में

---

१. "विद्या प्रकाश" फरवरी १८८२ ई०

लिखी जाती है। हिन्दी भाषा संस्कृत से निकली है। एक समय था जब इस देश आर्यवर्त के राजद्वार आदि सब कामों में संस्कृत ही लिखी-पढ़ी जाती थी। यवनों का राज्य आने से पहले रोबकार और परवाने आदि सब उस समय की भाषा ही में लिखे जाते थे।

"हिन्दी भाषा को इस देश के सब खण्ड वासी सुगमता से समझ लेते हैं, उर्दू बोली को सब नहीं समझ सकते, इस कारण कि उसमें फारसी और अरबी के शब्द अधिक होते हैं और वह अब तक सर्वसाधारण मनुष्यों में नहीं फहली है न फहल सकती है।

"बादशाही और अंग्रेज हाकिमों ने उर्दू की पाठशाला बिठला कर और राजद्वार भाषा बना कर इसके फहलाने के बड़े बड़े उपाय किये फिर भी उसे सर्वसाधारण मनुष्यों ने अंगीकार नहीं किया।"

सभा ने स्मृतिपत्रों में जो प्रार्थना की वह इस प्रकार थी—

"जब तक हिन्दी भाषा राजद्वार भाषा न बना दी जाये[1] तब तक हिन्दी भाषा के द्वारा प्रथम शिक्षा कहलाने में सुगमता न होगी, और जिस समय हिन्दी भाषा राजद्वार भाषा हो गयी तो प्रथम शिक्षा हिन्दी भाषा के द्वारा आप से आप फहलती चली जायगी। जो गवर्नमेन्ट हिन्दी भाषा को इस समय राजद्वार भाषा बनाने में कुछ कठिनाई समझती हो तो उर्दू अक्षरों की जगह देवनागरी अक्षर कर देने की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा करने से कुछ हानि न होगी किन्तु पूरा पूरा न्याय होगा। वही नौकर वही अधिकार, वही रोबकार वही परवाने, जैसा अब उर्दू अक्षरों में लिखते हैं देवनागरी अक्षरों में लिखे जाया करें।

"यह काम बड़ी सुगमता से हो सकता है, केवल गर्वमेन्ट छः महीने वा कुछ अधिक समय पहिले राजद्वाराधिकारियों को अर्थात् सरकारी नौकरों को यह आज्ञा सुना दे कि अब कचहरी का काम देवनागरी अक्षरों में हुआ करेगा। इस समय के अंतर में सब लोग देवनागरी लिखना पढ़ना सीख लें। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सब तीन दिन में देवनागरी के ४९ अक्षर और १२ मात्रा आदि सीख कर लिखने पढ़ने लगते हैं और छः महीनों से तो उनको वैसा ही अभ्यास हो जायेगा जैसा कि अब उर्दू अक्षरों में है।

"उर्दू अक्षरों में जैसा लिखा जाता है ठीक वैसा पढ़ा नहीं जाता किन्तु लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ जाता है। नाम गांव ठांव तो कभी और किसी से ठीक

---

१. अशुद्ध

ठीक नहीं पढ़े जाते। भला कोई निरी उर्दू, जानने वाला ऐसा मनुष्य भी है कि संस्कृत और अंग्रेजी शब्द उर्दू अक्षरों में लिखे हुए ठीक-ठीक उच्चारण कर दे। कोई नहीं, एक भी नहीं। देवनागरी में जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा जाता है; पढ़ने और लिखने में कुछ भी अंतर नहीं रहता।

"इसका कारण यही है कि देवनागरी अक्षरों में १६ स्वर होते हैं और उर्दू में केवल ३ स्वर हैं, तीन स्वर १६ स्वरों का काम देते हैं, एक-एक स्वर का कई-कई प्रकार से उच्चारण होता है। उर्दू की सारी लिखावट नुक्तों पर है। कचहरी की उर्दू लिखावट में नुक्ते नहीं दिये जाते ; बहुत से अक्षर एक ही प्रकार के बनते हैं और बहुत से अक्षरों का उच्चारण भी एक ही प्रकार का होता है। जिस प्रकार उर्दू में स्वर थोड़े हैं उसी प्रकार व्यंजन भी बहुत थोड़े हैं और दो दो तीन तीन अक्षर मिला कर एक अक्षर बनता है।"

सब प्रकार के तर्कों से अपने स्मृति-पत्र को पूर्ण करने के बाद सभा ने अंत में लिखा—"अब हम अपनी प्रार्थना को पूर्ण करके भारी आशा रखते हैं कि सरकार हमारी प्रार्थना के अनुसार ऐसा न्याय करेगी जैसा कि होना उचित है।"

अध्याय ७

अन्तिम दशक का आन्दोलन

उन्नीसवीं शती के अंतिम दशक में हिन्दी के लिए व्यापक आन्दोलन हुआ। सन् १८९३ की दो घटनाएं उल्लेखनीय हैं। उस वर्ष नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना काशी में हुई। उसी वर्ष रोमन लिपि को भारतीय भाषाओं के लिए अपनाने का प्रस्ताव पुनः उठाया गया। दो-तीन वर्ष तक उस प्रस्ताव की चर्चा मात्र होती रही। परन्तु १८९६ में यह बात दृढ़ता के साथ फैलने लगी कि पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार अदालतों तथा अन्य दफ्तरों में फारसी अक्षरों के स्थान पर रोमन लिपि को प्रचलित करना चाहती है। उस समय नागरी लिपि का कोई सरकारी अस्तित्व नहीं था ; रोमन की स्वीकृति से जिस भाषा या लिपि को तुरन्त हानि पहुंचने का भय था वह थी उर्दू। परन्तु इस प्रस्ताव से उन अनेक लोगों की आकांक्षा पर भी पानी फिर जाता जिन्हें यह आशा थी कि वे हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को सरकारी दफ्तरों में प्रविष्ट कराके ही चैन लेंगे। जैसा कि श्री श्याम सुन्दर दास ने लिखा है—"यदि एकबार रोमन अक्षरों का प्रचार हो गया तो फिर देव नागरी अक्षरों के प्रचार की आशा करना व्यर्थ होगा।"[1]

नागरी प्रचारिणी सभा ने इस प्रस्ताव के विरुद्ध आवाज उठाने का निश्चय किया। उसने कुछ धन एकत्र किया और "नागरी कैरेक्टर" (The Nagri Character) के शीर्षक से एक पुस्तिका १८९६ ई० में प्रकाशित की जिसमें नागरी लिपि की उत्तमता और रोमन की अनुपयुक्तता पर तर्क प्रस्तुत किये गये, तथा यह कहा गया कि रोमन लिपि को इस देश की भाषाओं पर लादना घोर अन्याय होगा। इस विरोध ने किसी आन्दोलन का रूप नहीं लिया—उस जमाने में आन्दोलन होते ही कहाँ थे ; पश्चिमोत्तर प्रदेश तो बिल्कुल ही आन्दोलन-शून्य था। परन्तु सरकार के लिए यह जानकारी काफी थी कि जनता में रोमन के प्रति व्यापक विरोध भावना है। इस विवादास्पद विषय का निपटारा कैसे किया जाय, सरकार

---

१. 'मेरी आत्मकहानी', पृ० २८

के सामने यह समस्या थी। उसने एक समिति नियुक्त की जिससे यह कहा कि विवाद का निरीक्षण करके उचित सिफारिश प्रस्तुत करे। संयोग से समिति ने रोमन के पक्ष में सम्मति दी। परन्तु प्रश्न यह था कि सरकार सार्वजनिक भावना अकारण ही क्यों ठुकरा दे। अतः उसने समिति की सिफारिश अस्वीकृत कर दी, और २७ जुलाई १८९६ को अपने निर्णय की घोषणा करते हुए कहा कि "रोमन के प्रचार से सरकारी अफसर देश की भाषा के प्रति उदासीन हो जायँगे।"

इस सफलता के बाद मुख्य विषय पुनः हाथ में लिया गया। उस वर्ष के कार्य का विवरण श्री श्यामसुन्दरदास ने निम्नोद्धरित शब्दों में दिया है—

"नवम्बर मास में सर एंटोनी मैकडानेल साहब, जो इस प्रदेश के लेफटिनेन्ट गवर्नर थे, काशी पधारे। सभा ने उनको एक अभिनन्दन-पत्र देने का विचार कर उसके लिए आज्ञा मांगी। कोई उत्तर न मिला। जब सर एंटोनी काशी पहुँच गये, तो मैं नदेसर की कोठी में, जहाँ वे ठहरे थे, बुलाया गया। बनारस के कमिश्नर के सरिश्तेदार ने मुझसे कहा कि यदि तुम्हारी सभा अभिनन्दन-पत्र देना चाहती है तो जाओ और डेपुटेशन लेकर अभी आओ। मैंने कहा कि संध्या हो चली है। लोगों को इकट्ठा करने में समय लगेगा। यदि कल या परसों इसका प्रबन्ध हो सके तो हम लोग सहर्ष आकर अभिनन्दन-पत्र दे सकते हैं। उन्होंने कहा, यह नहीं हो सकता। मैं लौट आया और मुख्य सभासदों से सब बातें कहीं। निश्चय हुआ कि अभिनन्दन-पत्र डाक से भेज दिया जाय और सब बातें लिख दी जायं। ऐसा ही किया गया।"[1]

इस अभिनन्दन-पत्र का लेफटिनेन्ट-गवर्नर की ओर से यह उत्तर दिया गया— "उर्दू के बजाय हिन्दी को अदालती भाषा का पद देने का सुझाव एक ऐसा प्रश्न है जिस पर वह अभी कोई राय प्रकट नहीं कर सकते; परन्तु वह इस बात को मानते हैं कि जो विषय आपने उठाया है, उस पर समुचित ध्यान देने की आवश्यकता है, और वह भविष्य में किसी उपयुक्त समय पर ध्यान देंगे।"

कुछ समय बाद आशा की दूसरी किरण प्रयाग में भारती भवन के वार्षिकोत्सव पर न्यायमूर्ति नाक्स के भाषण से प्रकट हुई; वह उत्सव के अध्यक्ष थे। उन्होंने आशा व्यक्त की कि हिन्दी के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, उनके सफल होने की पूरी आशा है।

---

१. 'मेरी आत्मकहानी', पृ० २९-३०

अब संघर्ष पं० मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व में चला। पण्डित जी हिन्दी के समर्थकों में सर्वप्रमुख नेता थे। उन्होंने कार्य का श्रीगणेश लेफटिनेन्ट-गवर्नर के सम्मान में एक पार्टी देकर किया। मालवीय जी के कथनानुसार "यह पार्टी नागरी लिपि के लिए सर एंटोनी की सहानुभूति प्राप्त करने की आंतरिक इच्छा से मैंने दी थी। पार्टी की सफलता का गवर्नर पर अच्छा प्रभाव पड़ा। उसके बाद जब मैं देवनागरी के लिए उनसे मिला, तब उन्होंने कहा—ज़रा ठहर कर आइए।"[1]

मालवीय जी ने हिन्दी भाषा तथा नागरी विषयक ऐतिहासिक तथा अन्य सामग्री एकत्रित की, और कठिन परिश्रम के बाद एक पुस्तिका अंग्रेजी में तैयार की "कोर्ट करैक्टर एण्ड प्राईमरी एजुकेशन इन नार्थ-वेस्टर्न प्राविन्सेज" (पश्चिमोत्तर प्रान्त में अदालती लिपि तथा प्रारंभिक शिक्षा)। पुस्तिका में इस तथ्य पर अधिक बल दिया गया कि स्वयं विभिन्न अंग्रेज अधिकारियों तथा विशेषज्ञों ने उन्नीसवीं शती के आरंभ से ही समय-समय पर यह स्वीकार किया है कि हिन्दी को ही इस देश की अदालती भाषा बनने का अधिकार है? उन्होंने नागरी लिपि की भूरि भूरि प्रशंसा की है और यह सिफारिश की है कि यदि नागरी लिपि के द्वारा अदालती काम होगा तो जनता के एक विशाल भाग को सुगमता हो जायेगी। हिन्दी के पक्ष की पूर्ण और सर्वाङ्गीण वकालत केवल इसी पुस्तिका में मिल सकती है। उन्होंने जन-गणना के प्रतिवेदनों तथा शिक्षा विभाग के वार्षिक प्रतिवेदनों से आंकड़े लेकर यह सिद्ध किया कि हिन्दी भाषा बोलने तथा लिखने पढ़ने वालों की जन-संख्या उर्दू वालों की संख्या से कई गुनी अधिक है। उन्होंने प्रकाशित पुस्तकों के भी आंकड़े एकत्र किये और यह दिखाया कि इन प्रकाशनों में हिन्दी पुस्तकों की संख्या चार-पांच गुनी अधिक है। इस पुस्तिका का तर्कसिद्ध सार यह था कि हिन्दी को उसके उचित पद से अलग रख कर सरकार अन्याय कर रही है। पुस्तिका तैयार हो जाने के बाद लेफटिनेन्ट-गवर्नर के पास डेपुटेशन ले जाने की तैयारी की गयी। एक अभ्यर्थना-पत्र लिखा गया, और उसे सार्वजनिक रूप देने के लिए उस पर विभिन्न जिलों के हिन्दी समर्थकों के हस्ताक्षर प्राप्त किये गये। यह काम नागरी प्रचारिणी सभा के उत्साही व्यक्तियों ने किया। उन्होंने जिन जिलों का दौरा किया वे हैं मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, गोण्डा, बहराइच, बस्ती, फैजाबाद, लखनऊ, कानपुर, बिजनौर, इटावा, मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर,

---

१. रामनरेश त्रिपाठी,—'तीस दिन--मालवीय जी के साथ', पृ० १३२

झांसी, ललितपुर, जालौन, काशी, इलाहाबाद आदि। अभ्यर्थना-पत्र के साथ "लगभग ६० हज़ार हस्ताक्षर १६ जिल्दों में बांधकर दिये गये थे।"[1]

डेपुटेशन, जिसमें १७ व्यक्ति थे, और जिसके नेता मालवीय जी थे, २ मार्च, १८९८ को लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर सर एंटोनी मेकडानेल से इलाहाबाद के राजभवन में मिला। सर एंटोनी ने उत्तर में कहा—

"....आप लोगों का यह प्रस्ताव है कि फ़ारसी के स्थान पर नागरी अक्षरों का, जिसमें हिन्दी साधारणतः लिखी जानी चाहिए, प्रचार किया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रस्ताव के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इन प्रान्तों में चार करोड़ सत्तर लाख मनुष्य बसते हैं, और जो अनुसंधान प्रसिद्ध भाषातत्व वेत्ता डाक्टर ग्रियर्सन प्रत्येक जिले की भाषाओं की जांच के सम्बन्ध में कर रहे हैं, उससे यह प्रकट होता है कि इन चार करोड़ सत्तर लाख मनुष्यों में से चार करोड़ पचास लाख मनुष्य हिन्दी या उसकी कोई बोली बोलते हैं। अब यदि चार करोड़ पचास लाख मनुष्य उस भाषा को लिख भी सकते जिसे वे बोलते हैं तो निसंदेह फारसी के स्थान पर नागरी के अक्षरों का प्रचिलित किया जाना अत्यन्त आवश्यक होता। इन चार करोड़ पचास लाख मनुष्यों में से तीन लाख से कुछ कम लिख और पढ़ सकते हैं और इन शिक्षित लोगों में एक अच्छा अंश मुसलमानों का है जो उर्दू बोलते हैं और फारसी अक्षरों का व्यवहार करना पसंद करते हैं। इससे आप लोग समझ सकते हैं कि यद्यपि मैं नागरी अक्षरों के विशेष प्रचार के पक्ष में हूँ, पर मैं यह बात कह देना उचित समझता हूं कि जितनी आप लोग समझते हैं उससे अधिक आपत्तियां इसके पूर्ण प्रचार की अवरोधक हैं।

"......मुसलमान लोग, जैसा कि आप लोग अनुमान करते हैं, इस परिवर्तन का विरोध करेंगे। अभी तक आप लोगों ने उनका विरोध दूर करने और उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिए कोई ऐसा कार्य नहीं किया है जिससे यदि वे आपके विचारों से सहमत न हों तो कम से कम आपस में निपटारा तो कर लें। हम लोगों को दूरदर्शिता पर ध्यान देकर यह देखना चाहिये कि कोई ऐसा बीच का उपाय हो सकता है या नहीं जिससे दोनों ओर का विरोध दूर हो जाय।"

परन्तु सर एंटोनी ने यह स्वीकार किया कि "यह उचित नहीं है कि ऐसा

---

१. श्यामसुन्दरदास—'मेरी कहानी', पृ० ३८

पुरुष जो नागरी लिख सकता हो सरकार के पास भेजने के लिए अपने आवेदन-पत्र या मेमोरियल को फारसी भाषा में लिखवाने का कष्ट सहन करे। यह भी अनुचित लगता है कि एक सरकारी आज्ञा जो ऐसे गांवों के लिए निकाली जाय जहां के वासी हिन्दी बोलते हों, फारसी अक्षरों में लिखी हो, जिसे उस गांव में कोई भी न पढ़ सके। ऐसा प्रबन्ध करना असंभव न होना चाहिये, जिसमें हिन्दी या उर्दू बोलने वालों में से सबको अपने आवेदन-पत्रों को सरकार तक पहुँचाने में तथा सरकार को उनकी इच्छाओं को जानने में सुभीता हो और किसी प्रकार का कष्ट या व्यय न सहन करना पड़े। इस प्रकार के बंधन से (यदि हो सके तो) यद्यपि वे सब बातें प्राप्त न होंगी, जो आप लोगों का तथा इस मेमोरियल के दूसरे समर्थकों का लक्ष्य है; तथापि उससे कुछ बातें अवश्य प्राप्त होंगी। यह समझ लेना चाहिये कि ३०० वर्षों से जो कार्य होता आ रहा है, वह एक दिन में नहीं हट सकता। मैं समझता हूं कि बादशाह अकबर के पहले भारत के इस भाग में सब राजकीय तथा घरेलू कार्यों में हिन्दी भाषा तथा नागरी अक्षरों का व्यवहार होता था।"

लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर ने तुरन्त कोई निर्णय नहीं लिया, और डेपुटेशन को यह कह कर बिदा किया कि "हम लोगों को जो कुछ करना है पूरी जांच और विचार के बाद करना चाहिए।"

प्रश्न निश्चय ही कठिन था। सरकार के सामान्य प्रशासन विभाग में स्मृति-पत्रों तथा अपीलों के दो ढेर लगे हुए थे। एक में वे अनेक पत्र थे जिसमें हिन्दी-पक्ष की वकालत थी, और दूसरे में हिन्दीविरोध और उर्दू के पक्ष की। हिन्दी उत्साहियों की भांति उर्दू-प्रेमी भी विभिन्न नगरों में सार्वजनिक सभाएं कर रहे थे और सरकार के पास प्रतिनिधिमंडल भेज रहे थे। हिन्दी उर्दू प्रश्न एक राजनीतिक प्रश्न बन गया था, सरकार भी इसे इसी दृष्टिकोण से देखने लगी थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म (१८८५ ई०) के बाद कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने भारत के राजनीतिक जीवन में हिन्दू-मुस्लिम मतभेद को विस्तृत रूप देना शुरू कर दिया था। उनके सौभाग्य से सर सैयद जैसे नेता उनके हामी तथा प्रबल समर्थक बन गये थे। मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखने की कोशिश की जा रही थी। उनके सामने तर्क यह रखा जा रहा था कि यदि कांग्रेस की मांग के अनुसार भारत में लोकतंत्रीय संस्थाएं स्थापित होंगी तो उनमें हिन्दुओं का प्रमुत्व होगा क्योंकि वे बहुसंख्या में हैं तथा मुसलमानों को प्रभावरहित अल्पसंख्या बन जाना पड़ेगा। वास्तविक उद्देश्य यह था कि हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों की खाई अधिक चौड़ी हो जाये। ऐसी स्थिति में सरकार मुसलमानों को तो खुश रखना

चाहती ही थी, पर वह यह भी नहीं चाहती थी कि वे हिन्दू भी जो कांग्रेस के प्रति उदासीन हैं, सक्रिय रूप से उसकी ओर झुक जायं।

उसने प्रशासन के तीन सर्वोच्च विभागों के प्रमुखों से सम्मति मांगी। ये प्रमुख थे, राजस्व बोर्ड के अध्यक्ष, हाई कोर्ट के रजिस्ट्रार तथा न्याय प्रशासन के कमिश्नर। सम्मति आने पर और बहुत कुछ उसी के आधार पर सरकार ने १८ अप्रैल १९०० को एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें प्रश्न को, कुछ विस्तार के साथ जांचा गया। इस प्रस्ताव की भूमिका का आदि वाक्य यह है,—"पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफटिनेन्ट-गवर्नर तथा अवध के चीफ-कमिश्नर, सर एंटोनी मैकडानेल, के कार्यकाल में सरकार के पास अनेक स्मृति-पत्र आये हैं, जिनमें यह अनुरोध किया गया है कि इन प्रान्तों के सार्वजनिक दफ्तरों तथा अदालतों में फारसी लिपि का स्थान नागरी को दे दिया जाय।" भूमिका में आगे विगत घटनाओं का संक्षिप्त सिलसिलेवार इतिहास भी है, जो १८३७ के उस आदेश से आरंभ होता है जिसके फलस्वरूप अदालतों में फारसी भाषा का स्थान उर्दू को मिला। इसके प्रसंग में एक भावसूचक वाक्य का प्रयोग किया गया है। सन् १८३७ के आदेश के अनुसार सदर दीवानी अदालत (जो उस समय अंग्रेजी भारत के अदालत जगत की सर्वोच्च संस्था थी) ने जो आज्ञा जारी की थी उसमें कहा गया था कि सब अदालतों में "हिन्दुस्तानी भाषा" का प्रयोग किया जाय। इस सारगर्भित संकेत के बाद प्रस्ताव में वह भावसूचक वाक्य आता है—सन् १८३७ के "आदेश में हिन्दुस्तानी भाषा का नाम लिखा गया है, लिपि के विषय में कुछ नहीं कहा गया है।" इससे यह भावार्थ स्वतः निकलता है कि फारसी लिपि को इसलिए अपना लिया गया कि (१) अमला उसमें अभ्यस्त था, (२) सामान्यतः उर्दू और "हिन्दुस्तानी" प्रायःवाची शब्द माने जाते थे, (३) हिन्दी तथा नागरी का पक्ष पेश करने की लगन उस समय नहीं थी क्योंकि शायद जनता में प्रतिनिधित्व भार ग्रहण करने की प्रवृत्ति पैदा नहीं हुई थी।

पश्चिमोत्तर सरकार ने उक्त महत्वपूर्ण तथ्य का संकेत भिन्न उद्देश्य से किया—अपने आदेश को तर्क का पुट देने के उद्देश्य से। एक ओर तो उसने यह बखान किया कि मध्य प्रदेश तथा बिहार की सरकारों ने फारसी लिपि को हटाकर उसका स्थान पूर्णतया नागरी को दे दिया है, और दूसरी ओर बहस की "विभिन्न कारणों को दृष्टि में रखते हुए पश्चिमोत्तर प्रान्त में न तो वर्तमान अदालती भाषा बदली जा सकती है और न फारसी लिपि का निषेध हो सकता है।" इस दृष्टिकोण ने उस तर्क को जो हिन्दी और नागरी के पक्ष में प्रस्तुत किया जा रहा था (अर्थात् एक विशाल बहुसंख्य जनता की बोलने और लिखने की भाषा हिन्दी-नागरी है) बिल्कुल

नजरअन्दाज़ कर दिया और उस संयोग को भी जिसके कारण सन् १८३७ के आदेश के बाद उर्दू तथा फारसी लिपि को अपना लिया गया था। जैसा कि स्वयं प्रस्ताव में कहा गया था, इस दृष्टिकोण में "निर्णयार्थ प्रश्न अति सीमित हो जाता है। अर्थात् केवल यह निर्णय करना है कि क्या नागरी लिपि के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई ऐसा प्रबन्ध हो सकता है जिसके द्वारा लोगों के उस अति वृहत भाग को सुविधा प्राप्त हो जाय जो केवल नागरी जानता है तथा कोई अन्य लिपि नहीं जानता।"

सरकार ने इस "अति वृहत भाग" के पक्ष का तर्क भी अपने प्रस्ताव में दोहराया—"कोई ऐसे आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं जिससे यह ठीक ठीक पता लग सके कि कितने लोगों को केवल हिन्दी भाषा तथा नागरी या कैथी अक्षर का ज्ञान है और वे केवल उसी का प्रयोग कर सकते हैं, तथा कितने लोगों को केवल फारसी अक्षर का; परन्तु सन् १८९१ के प्रतिवेदन से यह आभास मिल सकता है कि छोटी श्रेणी के लोगों में भाषावार अनुपात क्या है। जन-गणना में जिन संस्थानकों ने अंग्रेजी अक्षरों का प्रयोग किया उनकी संख्या ८१३ थी, उर्दूवालों की ५४, २४४, हिन्दी वालों की ८०, ११८ तथा कैथी वालों की ४०, १९७।

"लेफिटिनेन्ट गवर्नर समझते हैं कि गोरखपुर, बनारस, इलाहाबाद तथा आगरा डिवीजनों में हिन्दी प्रायः सर्वत्र प्रचलित लिपि है, और मेरठ तथा रुहेलखण्ड डिवीजनों में वह अत्यधिक प्रयोग में लायी जाती है।"

अपने प्रस्ताव में उक्त विवाद करने के बाद सरकार ने यह निर्णय किया :—

"(१) सब लोग, अपनी इच्छानुसार अपनी याचिकाएं या शिकायतें नागरी या फारसी लिपि में प्रेषित कर सकते हैं।

(२) सब सम्मन, घोषणाएं तथा इस प्रकार के अन्य पत्र, जो अदालतों तथा राजस्व के दफ्तरों से देशी भाषा में जारी किये जाते हैं, अब फारसी तथा नागरी लिपियों में होंगे और इन कागजों में छुट्टी हुई जगह को दोनों लिपियों के अक्षरों में भरा जायेगा।

(३) भविष्य में (उन दफ्तरों को छोड़कर जिनमें सब काम केवल अंग्रेजी में होता है) कर्ल्को या अफसरी के स्थान पर केवल ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जायेगी जो नागरी तथा फारसी लिपि दोनों भली भांति लिख पढ़ सकते हैं।"

प्रस्ताव के अंत में कहा गया कि "यह नियम दीवानी, माल तथा राजस्व अदालतों पर लागू होंगे।"

अब एक नया आन्दोलन सार्वजनिक मंच पर आया। सरकार का उक्त

प्रस्ताव हिन्दी के स्वाभिमान के लिए संतोषप्रद नहीं था, उससे हिन्दी को अधिकारपूर्ण मान नहीं दिया गया था, बल्कि उसके प्रति दया दिखलाई गई थी; उसमें हिन्दी को अदालती भाषा नहीं माना गया था (जो स्थान उर्दू के पास पूर्ववत रहा), बल्कि हिन्दी जनता के लिए सुविधा का प्रबन्ध कर दिया गया था। परन्तु, फिर भी उर्दू प्रेमियों ने नयी व्यवस्था का विरोध किया। विरोध का नेतृत्व अलीगढ़ मुस्लिम कालेज (जिसकी सर सैयद अहमद खां ने स्थापना की थी) के नेताओं के हाथ में था। उन्होंने विरोध सभाएँ कीं और कहा कि सरकार का उक्त प्रस्ताव उर्दू पर एक प्रकार का आक्रमण है, क्योंकि इससे उर्दू का महत्व कम हो जायेगा। विरोध इतना बढ़ा कि उसने सरकार तथा अलीगढ़ के नेताओं में गंभीर मतभेद पैदा कर दिया। उस काल की मुस्लिम राजनीति में यह एक अनोखी बात हो गयी। अलीगढ़ के मुस्लिम नेतागण अंग्रेज-भक्त तथा सरकार-समर्थक थे ; सर सैयद ने उन्हें यही पाठ पढ़ाया था। परन्तु इस मामले में वे विचलित हो गये ; शायद उन्होंने सोचा होगा कि हिन्दी-विरोध से सरकार क्रुद्ध नहीं होगी। उन्होंने अगस्त १९०० में (अन्जुमन-ए-उर्दू के तत्त्वावधान में) लखनऊ में एक सभा की जिसमें यह संकल्प किया कि सरकार से यह माँग की जाय कि वह अपना हिन्दी सम्बन्धी प्रस्ताव रद्द करे। सभा का सभापतित्व अलीगढ़ कालेज के मंत्री तथा सरकार भक्त, नवाब मोहसिन-उल-मुल्क ने किया। सरकार को नवाब का रवैया पसन्द नहीं आया, और उसने उनसे कहा कि या तो वह अलीगढ़ कालेज के मंत्री रहें या अन्जुमन-ए-उर्दू में भाग लें ; उन्हें दोनों में से एक को चुनना पड़ेगा। नवाब सकते के आलम में आ गये, वह भयभीत हो गये और उन्होंने मित्रों के परामर्श पर अन्जुमन से त्यागपत्र दे दिया।

इसके बाद मुस्लिम राजनीति में क्या उलट-फेर हुआ, वह इस प्रसंग से बाहर की चीज है। मुस्लिम नेताओं के रोषपूर्ण तथा व्यापक विरोध ने हिन्दीवादियों को सरकारी प्रस्ताव का समर्थक बना दिया ; यदि यह विरोध न होता तो वे असंतोष व्यक्त करते और हिन्दी को अदालती तथा दफ्तरी भाषा बनाने की मांग पुनः दोहराते और आन्दोलन जारी रखते ; अतः उन्होंने प्रस्ताव का स्वागत किया और सार्वजनिक सभाओं में अनुमोदन व्यक्त किया।

विरोध और प्रतिरोध ने हिन्दी-उर्दू प्रश्न को हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न बना दिया। विगत वर्षों में विभिन्न प्रतिवेदनों तथा अन्य सरकारी आलेखों में यह स्वीकार किया गया था कि हिन्दी जानने वालों की संख्या उर्दू जानने वालों से अधिक है; अब मुस्लिम नेताओं की ओर से आंकड़ों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाने

लगा कि वास्तविक स्थिति इस से विपरीत है, अर्थात् उर्दू ज्ञाता बहुसंख्या में हैं। अगली जन गणना में मुस्लिम प्रचारकों ने यह आरोप लगाया कि हिन्दी संख्यानकों ने उन लोगों को भी हिन्दी-भाषी लिखा है जो वास्तव में उर्दू-भाषी हैं, इसका विपरीत आरोप हिन्दू प्रचारकों की ओर से लगाया गया। जन-गणना आयुक्त ने इन आरोपों का जो उत्तर दिया उससे वास्तविक स्थिति पुनः स्पष्ट हो गयी—"उन जिलों में जहाँ उर्दू को मुख्य बोली माना जाता है, दस हजार में केवल १,३७७ व्यक्ति उर्दू-भाषी हैं, तथा उन जिलों में जहां इसको मुख्य भाषा नहीं माना जाता दस हजार में केवल ४०२ व्यक्ति उर्दू-भाषी हैं।" आयुक्त ने एक अन्य स्थान पर लिखा —"जिन स्थानों में शिक्षित व्यक्ति अनुपाततः अधिकतम हैं वहां नागरी (या उससे सम्बन्धित लिपियों) का प्रयोग अधिकतम है। रूहेलखण्ड ही एक ऐसा डिवीजन है जहां नागरी की अपेक्षा फारसी लिपि का प्रयोग अधिक होता है, परन्तु यहां शिक्षित व्यक्तियों की संख्या सब डिवीजनों से अनुपाततः कम है।"

अध्याय ८

१९वीं शती की धार्मिक संस्थाएँ और हिन्दी

उन्नीसवीं शती में हिन्दी को सरकारी उत्साह और अधिक नहीं मिला, परन्तु जनता ने उसे आगे बढ़ाने और समृद्ध बनाने के लिए प्रयास जारी रखा। यह प्रयास किसी न किसी रूप में सम्पूर्ण भारत में हो रहा था। उस शती के पूर्वार्द्ध में ही राष्ट्रीय भवनाएं जाग्रत होने लगी थीं, और अनिवार्यत: उनके साथ यह प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक था कि सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा एक होनी चाहिए। राष्ट्रीय चेतना के सर्वप्रथम प्रवर्तक राजा राम मोहन राय अंग्रेजी भाषा के प्रचार के हामी अवश्य थे, परन्तु उन्होंने अपने कृत्यों द्वारा हिन्दी के राष्ट्रीय स्थान को स्वीकार किया। उनका "बंगदूत" पत्र, जो १८२६ ई० में प्रकाशित हुआ था, चार भाषाओं में छापा जाता था—हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला और फारसी। बंगला तो उनकी मातृभाषा थी ही, और क्योंकि पत्र का प्रकाशन कलकत्ता से होता था, इसलिए क्षेत्रीय भाषा की वहां के लिए अनिवार्यता थी। फारसी अदालती भाषा थी, और अंग्रेजी थी शासकों की भाषा। हिन्दी इनमें से किसी भी मापदंड के अन्तर्गत नहीं आती थी; परन्तु सरकारी मान्यता के न होते हुए भी वास्तविकता को तो मानना ही पड़ता—वास्तविकता यह थी कि जनता में हिन्दी का प्रचार भारत में सब कहीं था।

राम मोहन राय स्वयं हिन्दी लिखते थे। उनका धार्मिक तथा सामाजिक कार्य बंगाल तक सीमित नहीं था। यद्यपि वह फारसी और अंग्रेजी के विद्वान् थे, परन्तु वह जानते थे कि बिना हिन्दी के कोई भी अन्तरप्रान्तीय काम नहीं किया जा सकता। उनका ब्रह्म-समाज सम्प्रदाय ईसाई मत प्रचारकों के लिए चुनौती था। ये प्रचारक हिन्दू धर्म को तुच्छ बतलाते थे, और लोगों को ईसाई धर्म अंगीकार करने के लिए आमंत्रित करते थे। इनके आक्षेपों का उत्तर राजा राम मोहन राय ने ब्रह्म-समाज के रूप में दिया जिसमें रूढ़ियों को हटाकर विशुद्ध धर्म को प्रस्तुत किया गया। अपने विचारों के व्यापक प्रचार के लिए उन्होंने जो पुस्तकें छपवाईं वे अधिकांश हिन्दी में थीं।

राम मोहन की मृत्यु के बाद बंगाल के विभिन्न ब्रह्म-समाजी नेताओं ने भारत

की राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न उठाया, और तर्कपूर्ण लेखों द्वारा सुझाव दिया कि हिन्दी ही इस पद के योग्य है। इन नेताओं में प्रमुख थे केशवचन्द्र सेन, राजनारायण बोस, भूदेव मुकर्जी और नवीनचन्द्र राय। नवीन चन्द्र ने दूर पंजाब में जाकर हिन्दी के माध्यम से समाज-सुधार का प्रचार किया। हिन्दी प्रचार उनके समाज सुधार कार्यक्रम का अंग बन गया और उन्होंने कई पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं जिसमें हिन्दी के पक्ष की वकालत की तथा आलोचकों की दलीलों का उत्तर दिया। उन्होंने लाहौर से दो पत्रिकाएं भी निकालीं ? व्यक्तिगत रूप से जिन लोगों ने पंजाब में हिन्दी के प्रचार का प्रयत्न किया उनमें श्रद्धाराम फुल्लौरी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने व्याख्यानों लेखों, आदि से हिन्दी के प्रति झुकाव पैदा किया। पंजाब भारत के उन प्रान्तों में था जो मुसलमान आक्रमणकारियों का सर्वप्रथम और बार बार शिकार होने के कारण हिन्दी के प्रभाव से अलग हो गया था। वहां शिक्षा का माध्यम उर्दू भाषा बन गयी थी; क्षेत्रीय भाषा पंजाबी का स्थान भी द्वितीय हो गया था। हिन्दी की कहीं पूछ ही नहीं थी। धर्म की पुस्तकें तक फारसी लिपि में छपवाई जाती थीं। फारसी लिपि हिन्दी तथा संस्कृत के अनेक शब्दों के लिए बिल्कुल उपयुक्त नहीं है; इसका परिणाम यह हुआ कि पंजाब के शिक्षित लोगों तक का उच्चारण बिगड़ गया। 'प्रकाश' को वे लोग 'परकाश' कहने लगे। पंजाब में साधारणतया: यह भावना तक नहीं थी कि भाषा की लिपि हिन्दी होनी चाहिये क्योंकि वह संस्कृत तथा स्वदेश की लिपि है और उसकी अक्षर-रचना पूर्णतय: उच्चारण के अनुसार की जाती है। भावना की इस कमी को राजनीति के एक दृष्टिबिन्दु से अच्छा बताया जा सकता है—बताया भी गया। कुछ राजनीतिक नेताओं का यह मत था कि उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि के पूर्ण आधिपत्य के परिणामस्वरूप पंजाब में वह भाषा-विवाद जिसे साम्प्रदायिक संघर्ष समझा जाता था कहीं नहीं था। पंजाब में उर्दू के एकाधिकार को तोड़ने के प्रयत्न से संघर्ष का पैदा होना तो बिल्कुल संभव था; परन्तु प्रश्न यह था कि क्या इस संभावना के भय से उस प्रयास का प्रसार न किया जाय जो हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा तथा नागरी को राष्ट्रीय लिपि बनाने की दिशा में किया जा रहा था। हिन्दी के प्रति जोश तो था ही, और उर्दू के प्रति विरोध भावना थी। जोश तथा विरोध के आवेग में अतिशयोक्ति होना असंभव नहीं है; साम्प्रदायिकता की पृष्ठभूमि में यह और भी संभव है। अत: पंजाब के हिन्दी प्रचारात्मक कार्य से कुछ मनमुटाव तो अवश्य पैदा हुआ, पर वह अधिक नहीं था। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि वहां हिन्दी का कुछ बढ़ता हुआ प्रयोग आर्य-समाज के प्रचार तक सीमित था; दूसरा यह कि इस प्रचार का

सरकार की शिक्षा सम्बन्धी नीति पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा—शिक्षा का माध्यम उर्दू ही बनी रही ।

पंजाब के असरकारी क्षेत्र में हिन्दी का प्रचार करने का मुख्य श्रेय आर्यसमाज को है; वह प्रान्त इस धार्मिक संस्था का मुख्य केन्द्र था। किसी भी, नये या पुराने, विचार के प्रचार के लिए सामान्यतः ऐसी भाषा को अपनाया जाता है जिसका विस्तार तुलनात्मक बड़ा हो। अहिन्दी प्रान्तों में भी हिन्दी थोड़ी बहुत समझी और बोली जाती थी, इसलिए आर्य समाज ने ये सिद्धांत बनाये:—(१) उसके प्रचारकों तथा अनुयायियों को हिन्दी में बोलना और लिखना चाहिए; (२) प्रचार का समस्त कार्य हिन्दी के प्रकाशनों द्वारा करना चाहिए; (३) शिक्षा संस्थाओं में हिन्दी को उचित स्थान दिलवाना चाहिये। आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने अपने निजी उदाहरण से अपने अहिन्दी भाषी अनुयायियों को भी हिन्दी का प्रयोग करने की प्रेरणा दी। वह स्वयं गुजराती थे ; उन्होंने हिन्दी सीखी और केवल उसे ही अपने व्याख्यानों तथा लेखनी का माध्यम बनाया। उनका उद्देश्य आर्य समाज के सिद्धान्तों का प्रसार करना था, परन्तु उनके तथा उनके अनुयायियों के धर्मप्रचार से जो अधिक उत्तम चीज राष्ट्रीय जीवन को प्राप्त हुई वह था राष्ट्रीय भाषा का प्रचार जो उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन से प्राप्त नहीं हुई ।

धर्मनिर्पेक्ष राजनीति में समाज सुधार का स्थान तो है, परन्तु ऐसे धार्मिक विवादों को जिनसे पारस्परिक वैमनस्य पैदा हो प्रोत्साहन देना अनुचित माना जाता है। आर्य समाज की गणना भी वैमनष्य तथा विवादोत्पादक संस्थाओं में की जाती थी; उसे एक ओर तो मुसलमान लोग अपना शत्रु समझते थे, और दूसरी ओर हिन्दुओं का एक भाग प्राचीन हिन्दू धर्म को विकृत करने वाला घोषित करता था। संयोग से इन सभी विरोधात्मक तत्वों द्वारा हिन्दी को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिला। पंजाब तथा उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों में जब आर्य समाज का प्रचार वेग से किया जा रहा था, तब अपने को सनातनी कहने वाले हिन्दुओं ने उनका विरोध करना तथा सनातन धर्म (जिस रूप में उसका व्यवहार हो रहा था) को विवाद बल प्रदान करना निश्चय किया। उन्नीसवीं शती के अंतिम वर्षों में इस निश्चय का कार्यान्वियन होने लगा; सनातन धर्म सभाएँ स्थापित की गयीं। सन् १९०० में इन बिखरी हुई सभाओं को एक संगठन में बांधने के अभिप्राय से सनातन सभा का एक अखिल भारतीय सम्मेलन दिल्ली में हुआ। इस नयी संस्था ने भी, आर्य समाज की भाँति, हिन्दी को अपने प्रचार का माध्यम बनाया। उसके उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह था—संस्कृत और हिन्दी-साहित्य को प्रोत्साहन

देना और उसके सब भागों को समृद्ध बनाना। आर्य समाज और सनातन धर्म सभा ने एक दूसरे का क्या अहित किया तथा दोनों ने मिलकर राजनीतिक जीवन में क्या कठिनाइयां पैदा कीं, यह विवादास्पद विषय हो सकता है; परन्तु जो बात निर्विवाद है वह यह है कि सनातन धर्म सभा द्वारा भी हिन्दी का प्रचार देश के विभिन्न भागों में बढ़ा। सभा की ६०० शाखाएं तथा ४०० संस्थाएं थीं; अहिन्दी प्रान्त में भी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी प्रचार-सामग्री प्रसारित की जाती थी। केन्द्रीय सभा के सब प्रकाशन हिन्दी में छापे जाते थे।

उन्नीसवीं शती के अखिल-भारतीय हिन्दी प्रचार का श्रेय धार्मिक संस्थाओं को है। जैसा कि डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने लिखा है, "आर्यसमाज के तत्कालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन के प्रसार के निमित्त जो व्याख्यानों और वक्तृताओं की धूम मची, उससे हिन्दी गद्य को बड़ा प्रोत्साहन एवं बल मिला।"[१] दयानन्द के भाषा सम्बन्धी वक्तव्यों से यह सहज में कहा जा सकता था कि वह भारतीय राष्ट्रीयता के एक महान् प्रेरक थे। एक देश एक भाषा उनका नारा था। उन्होंने एक सज्जन के पत्र के उत्तर में लिखा था "मेरी आंखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं जब काश्मीर से कन्या कुमारी तक सब भारतीय एक भाषा समझने और बोलने लगेंगे—अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।"[२] पंजाब में हिन्दी के प्रसार का श्रीगणेश करने का एकमात्र श्रेय आर्य समाज को है।

स्वामी दयानंद आग्रह करते थे कि भारत के विभिन्न प्रान्तों के निवासी एक दूसरे से हिन्दी में पत्र-व्यवहार करें। यह स्थान अंग्रेजी को प्राप्त था; उनके लिए यह तथ्य असह्य था। इस प्रसंग में उनके महान शिष्य स्वामी श्रद्धानंद का एक आग्रह मनोरंजक है; वह एक ऐतिहासिक घटना है। महात्मा गांधी ने २१ अक्तूबर १९१४ को स्वामी श्रद्धानंद (उनका नाम मुंशीराम था और वह उस समय महात्मा मुन्शी राम कहलाते थे) के पास एक पत्र नैटाल से भेजा था। यह पत्र अंग्रेजी में था। स्वामी श्रद्धानंद ने महात्मा गांधी को जो उत्तर दिया उसमें उन्होंने कहा:—"उस व्यक्ति को, जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहता है, अपने देशवासियों से अंग्रेजी में पत्रव्यवहार करने का कोई अधिकार नहीं है।" इस पत्र का महात्मा गांधी पर प्रभाव पड़ा, और वह न केवल हिन्दी में लिखने लगे, बल्कि भविष्य में (भारत वापिस आने पर) हिन्दी के सर्वोच्च प्रसारक बन गये।

---

१. 'हिन्दी गद्यशैली का विकास', पृ० ७८
२. 'नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ', पृ० १५६

अध्याय ९

साम्प्रदायिकता का प्रभाव

बीसवीं शती में, जब राजनीतिक संघर्ष उत्तरोत्तर उग्रतर होने लगा, तो भाषा और लिपि के प्रश्न को भी राजनीतिक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। नेताओं का विरोध अंग्रेजी पर केन्द्रीभूत हो गया। यह एक उच्च राष्ट्रीय दृष्टिकोण था। सबसे पहले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा —"इस काल में वह व्यक्ति शिक्षित माना जाता है जो अच्छी अंग्रेजी लिख और बोल सकता है। परन्तु किसी भाषा का कोरा ज्ञान शिक्षा नहीं है। एक विदेशी भाषा के अध्ययन के लिए जैसी मजबूरी भारत में है वैसी कहीं नहीं है। जिस शिक्षा को प्राप्त करने में हमें बीस-पचीस वर्ष व्यय करने पड़ते हैं वह देश की भाषाओं के माध्यम से सात-आठ वर्ष में प्राप्त की जा सकती है। वर्तमान परिस्थिति में हमें अंग्रेजी अवश्य सीखनी पड़ेगी, परन्तु कोई वजह नहीं है कि उसके अध्ययन को अनिवार्य किया जाय। मुसलमान काल में भी हमें फारसी सीखनी पड़ती थी, परन्तु उसका अध्ययन अनिवार्य नहीं था।"

एक ओर यह तर्क था, और दूसरी ओर यह ज्वलन्त तथ्य था कि अंग्रेजी भारत के भौगोलिक और राजनीतिक एकीकरण का प्रतीक मानी जाती थी। भारत का सर्वप्रथम राजनीतिक जनसंगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस थी। उसके अधिवेशनों में भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रान्तों के प्रतिनिधिगण एकत्रित होते थे; वे एक दूसरे से केवल अंग्रेजी में बातचीत कर सकते थे। वैसे भारत के प्रायः सभी अहिन्दी प्रान्तों में टूटी फूटी हिन्दी बोलने वाले तथा साधारण हिन्दी समझने वाले लोग थे; (बड़ौदा के गायकवाड़ ने सन् १९१० में कहा था—"मुझको भारत का कोई ऐसा निवासी नहीं मिला, जो सरल हिन्दी न समझता हो")[१] परन्तु हिन्दी या अन्य कोई भारतीय भाषा शिक्षित वर्गों में आदान-प्रदान की भाषा नहीं थी। अतः अंग्रेजी अनिवार्य और आवश्यक हो गयी। कांग्रेस तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं की

---

१. भारत की जनगणना, १९११, प्रतिवेदन भाग १, जिल्द एक, पृ० ३२०

बैठकों की कार्यवाही का माध्यम सर्वत्र अंग्रेजी था। अन्तरप्रान्तीय भारतीय भाषा की कमी के कारण भारत के विभिन्न प्रान्त अलग अलग देश-से हो गये थे। कहा जाता है कि उन्नीसवीं शती में भौगोलिक एकता का सच्चा आभास तब पैदा हुआ जब सातवें दशक के अंतिम वर्षों में श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने (जो भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के पिता कहलाते हैं) भारत के सुदूर प्रान्तों का दौरा किया और अंग्रेजी भाषणों द्वारा उन प्रान्तों के गण्य-मान्य व्यक्तियों के साथ संपर्क पैदा किया।

उस समय यह विचार किसी के मन में नहीं उठा था कि अंग्रेजी के द्वारा एक भारी कल्याण तो अवश्य हुआ है, परन्तु राष्ट्रीय मर्यादा के हित में उचित यह होगा कि किसी भारतीय भाषा को अखिल भारतीय भाषा के रूप में विकसित किया जाय जिससे अन्तरप्रान्तीय आदान-प्रदान के लिए विदेशी भाषा पर निर्भर न रहना पड़े। वह विनम्र राजनीति का जमाना था। धीरे-धीरे मान्यताएं और प्रवृत्तियां बदलीं, और जब कांग्रेस में एक उग्रदल का उदय हुआ तब भाषा का प्रश्न राष्ट्रीय स्वाभिमान के रूप में उठा। वाइसराय कर्जन के शासन काल में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने यह प्रस्ताव रखा कि भारत की सभी आर्य-भाषाओं की एक लिपि होनी चाहिए। इस सुझाव को लोकमान्य तिलक ने और अधिक व्यापक रूप दिया। दिसम्बर १९०५ में, सभा के एक सम्मेलन में भाषण करते हुए उन्होंने कहा—"सर्व-साधारण लिपि का प्रश्न राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग है। वास्तव में संपूर्ण भारत की एक सर्वमान्य भाषा होनी चाहिए। राष्ट्र के एकीकरण के लिए सर्व-मान्य भाषा से अधिक बलशाली कोई तत्व नहीं है। यदि लार्ड कर्जन ने एक सर्व-मान्य लिपि का प्रचलन कर दिया होता तो वह हमारे आदर के अधिकारी हो जाते। परन्तु, उन्होंने ऐसा नहीं किया ; अतः प्रान्तीय भावनाओं को छोड़कर हमें स्वयं प्रयत्न करना चाहिए।"

फिर उन्होंने देवनागरी के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया—

> "बंगालियों को अपनी लिपि पर स्वाभाविक गर्व है। गुजरातियों का कहना है कि उनके अक्षर अधिक सुगमता से लिखे जा सकते हैं, क्योंकि उनमें मात्राएं नहीं लगतीं। महाराष्ट्र के लोग कहते हैं कि मराठी के अक्षर वे ही हैं जो संस्कृत के हैं ; अतः वे समस्त भारत के लिए उपयुक्त हो सकते हैं। मुझे इन तर्कों की जानकारी है। परन्तु, हमें व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। हम कोई भी लिपि अपनाएं, यह बात ध्यान में रहनी

---

१. हेनरी काटन : 'न्यू इण्डिया', पृ० १५-१६

चाहिए कि वह लिपि सुगमता और प्रवाह के साथ लिखी जा सके, और देखने में सुन्दर हो। उसमें विभिन्न आर्य तथा द्रविड़ भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने की क्षमता भी होनी चाहिए। मेरे विचार में देवनागरी ही प्रधानतः ऐसी भाषा है।"

यह विचार वैज्ञानिक, व्यावहारिक तथा तर्कसंगत था। परन्तु यह आगे न बढ़ पाया, और धीरे धीरे भाषा तथा लिपि के प्रश्न को राजनीतिक मंच पर खड़ा कर दिया गया। भाषा तथा लिपि पर हिन्दुओं और मुस्लिम शिक्षित वर्गों में बीसों वर्षों से मतभेद चल रहा था, ईर्ष्या तथा वैमनस्य की प्रवृत्तियां बढ़ गयी थीं। राजनीतिक स्तर पर भी ऐसी ही स्थिति पैदा हो गयी थी। सन् १८९२ में भारतीय परिषद अधिनियम[1] के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान परिषदों में भारतीयों की संख्या बढ़ा दी गयी। परन्तु क्योंकि प्रतिनिधित्व व्यापारिक संस्थाओं, भूस्वामियों विश्वविद्यालयों आदि को दिया गया था, और क्योंकि इन संस्थाओं में हिन्दू लोग भारी बहुसंख्या में थे, इसलिए जो व्यक्ति चुने गये वे प्रायः सभी हिन्दू थे। उनमें साम्प्रदायिकता नहीं थी ; जब इन संस्थाओं में मुसलमान प्रायः थे ही नहीं तो बाहरी मुसलमानों को कैसे खड़ा किया जाता ? प्रतिनिधित्व संबन्धी उपबन्ध के दोष के कारण यदि मुसलमान प्रतिनिधित्व से वंचित रह गये तो इसमें दोष ब्रिटिश संसद का था जिसने अधिनियम बनाया था या भारत सरकार का था जिसकी सिफारिशों के आधार पर वह बनाया गया था।

परन्तु इस सीधे से प्रश्न को साम्प्रदायिक समस्या का रूप दे दिया गया, और अंग्रेजों की सहायता से मुसलमानों के लिए प्रथक निर्वाचन तथा प्रथक प्रतिनिधि निश्चित करने की मांग खड़ी की गयी। स्वयं वाइसराय की प्रेरणा से सन् १९०६ में भारत के सामन्त तथा शिक्षित वर्गों के गण्य-मान्य मुसलमान शिमला में एकत्र हुए, और उन्होंने एक मुस्लिम राजनीतिक दल संगठित करने का संकल्प किया। इस संकल्प के फलस्वरूप ही मुस्लिम लीग का जन्म हुआ। प्रथक निर्वाचन तथा प्रथक प्रतिनिधित्व के लिए जहां तहां आन्दोलन किया गया। अंग्रेज अधिकारी मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखना चाहते थे, और उन्होंने इस प्रचार में योग दिया कि कांग्रेस हिन्दू संगठन है जो भारत में हिन्दुओं का राजनीतिक प्रभुत्व चाहती है; अतः उन्होंने मुस्लिम लीग के जन्म का स्वागत किया। लन्दन के प्रति-

---

१. Indian Councils Act of 1892.

क्रियावादी-दैनिक "टाइम्स" ने अति हर्ष प्रकट किया तथा वायसराय की पत्नी ने लिखा "अच्छा हुआ कि मुसलमान आन्दोलनकारियों से बच गये।"

इन कृत्यों का वांछनीय फल हुआ, और सन् १९०९ के भारतीय परिषद अधिनियम के नियमों में प्रथक निर्वाचन का उपबन्ध कर दिया गया। इस प्रकार भारत के मुसलमानों को धर्म के आधार पर एक अलग राजनीतिक जाति बनाने का अध्याय आरंभ हुआ। परिणामस्वरूप अन्य सार्वजनिक बातों को भी राजनीतिक पृष्ठिभूमि में देखा जाने लगा। भाषा तथा लिपि के विषय में तो पहले से ही गंभीर मतभेद था। राष्ट्रीय शक्तियाँ जिनका प्रतिनिधित्व कांग्रेस करती थी, यह चाहती थीं कि भारत में एक ही राजनीतिक जाति का विक स हो जिसमें हिन्दू, मुसलमान ईसाई, तथा अन्य धर्मों के अनुयायी सब शामिल हों, अर्थात् राजनीतिक जीवन धार्मिक जीवन से प्रथक रहना चाहिए ; अतः वे सार्वजनिक विवादस्पद प्रश्नों को इस व्यापक दृष्टिकोण से देखते थे। लिपि तथा भाषा की समस्या को भी इसी दृष्टि से देखा गया।

सन् १९०८ में महात्मा गांधी ने अपनी पुस्तक "हिन्द स्वराज" में लिखा—
"भारत की सर्वग्राह्य भाषा हिन्दी होनी चाहिए, और वह इच्छानुसार नागरी या फारसी अक्षरों में लिखी जाय। हिन्दुओं तथा मुसलमानों में निकटतर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दोनों लिपियों का ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है। यदि हम ऐसा कर पाये, तो हम अल्प समय में ही अंग्रेजी को हटा सकते हैं।"[१]

हिन्दू-मुस्लिम एकता प्राप्त करने में महात्मा गांधी जीवन पर्यन्त लगे रहे। उनके लिए लिपि का प्रश्न उनके इस निष्कर्ष से भिन्न नहीं था कि राजनीतिक प्रगति के लिए तथा स्वाधीनता संग्राम के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता जरूरी है। नौ वर्ष बाद (सन् १९१७ में) उन्होंने भड़ौच में द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन के सभापति पद से अभिभाषण करते हुए लिपि के विषय में निम्न मत व्यक्त किया "यह निश्चय है कि मुसलमान अभी उर्दू लिपि का प्रयोग करेंगे, और अधिकांश हिन्दू हिन्दी का। मैंने 'अधिकांश' इसलिए कहा है कि आज भी हजारों हिन्दू उर्दू लिपि में लिखते हैं; कुछ तो ऐसे हैं, जो नागरी लिपि जानते ही नहीं। अन्त में, जब हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में लेशमात्र भी सन्देह न रहेगा, जब अविश्वास के सब कारण दूर हो जायेंगे, तब वह लिपि जो अधिक शक्तिशाली है, अधिक व्यापक प्रयोग में आ जायेगी और राष्ट्रीय लिपि बन जायेगी।"

---

१. "Hind Swaraj" Chap. XVIII

हुयी। अतः उसे चाहे हिन्दी कहिये या उर्दू, जो भाषा उत्तरी भारत के लोग बोलते हैं वह एक ही है। जब यह उर्दू लिपि में लिखी जाती है तब यह उर्दू कहलायी जा सकती है; जब यह नागरी लिपि में लिखी जाती है तो हिन्दी हो जाती है।"

अपने अभिभाषण में महात्मा गांधी ने हिन्दी के अन्तरप्रान्तीय प्रयोग पर भी प्रकाश डाला —

"हिन्दी भाषी व्यक्ति जहाँ कहीं जाता है, हिन्दी ही बोलता है, और इस पर किसी को अचंभा नहीं होता। हिन्दी भाषी हिन्दू धर्म प्रचारक और उर्दू भाषी मौलवी सम्पूर्ण भारत में धार्मिक भाषण हिन्दी या उर्दू में करते हैं। और अशिक्षित जनसमूह भी उन्हें समझ लेता है। जब एक अशिक्षित गुजराती भी उत्तर प्रदेश को जाता है तो वह हिन्दी के कुछ शब्द बोल लेता है। दूर दक्षिण के प्रान्तों तक में मैंने लोगों को हिन्दी बोलते हुए सुना है। यह कहना सही नहीं है कि मद्रास में बिना अंग्रेजी के काम नहीं चल सकता। मैंने अपने सब कामों के लिए सफलतापूर्वक हिन्दी का प्रयोग किया है। रेलगाड़ियों में मैंने मद्रासी यात्रियों को अन्य यात्रियों के साथ हिन्दी में बोलते सुना है। मद्रास के मुसलमान भी इतनी हिन्दी जानते हैं कि वे पर्याप्त रूप से अपना काम चला लेते हैं।. . .हिन्दी पहले ही भारत की राष्ट्र भाषा स्थापित हो चुकी है।"

जन समूह या जनतंत्र के पैमाने से नापकर किसी भाषा को किस सीमा तक सरल बनाया जा सकता है, यह एक अति विवादास्पद विषय है। जो खड़ी बोली उर्दू के जन्म तथा हिन्दी गद्य के विकास से पहले दिल्ली, मेरठ, तथा आस पास के क्षेत्रों में बोली जाती थी, वह जनसमूह की भाषा थी। बोली में जब विभिन्न भावनाओं विचारों, या विषयों को व्यक्त किया जाता है तब उस शब्द-संख्या से काम नहीं चलता जो साधारण बोलचाल के लिए पर्याप्त होती है। यह वह सीमा रेखा है जहाँ से शिक्षित व्यक्तियों की बोली मे या लिखित भाषा में तथा साधारण बोली में अन्तर पैदा होना शुरू हो जाता है। वैज्ञानिक या प्राविधिक विषय तो अलग रहे, सामाजिक राजनीतिक या आर्थिक विषय भी जन-समूह की बोली में पूर्णतया व्यक्त नहीं किये जा सकते। यही कारण है कि जब एक हिन्दी-ज्ञाता तथा एक उर्दू-ज्ञाता आपस में बातचीत करते हैं तो उन्हें अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। दृष्टान्त के लिए इस वाक्यखंड को ले लिया जाय—हमारे संविधान में यह उपबन्ध है।" दोनों व्यक्तियों में से प्रत्येक इस वाक्य को इन शब्दों में कहेगा—"हमारे कान्स्टीट्यूशन में यह प्रावीजन है।" इन दोनों शब्दों के लिए जन-समूह की सरल बोली में जिसे

'हिन्दुस्तानी' कहा जाता है कोई शब्द नहीं है; हिन्दी ने इन शब्दों को संस्कृत से लिया है तथा उर्दू ने फारसी से।

किसी भी भाषा की सरलता का मापदंड (अशिक्षित) जन-समूह की बोली नहीं हो सकती। मापदंड का निर्धारण यह सोचकर करना पड़ेगा कि धीरे धीरे शिक्षा का प्रसार होगा, और शिक्षित समाज के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता पड़ेगी, जो सरल तो हो ही, पूर्ण भी हो। उन्नीसवीं शती में ही इस प्रश्न पर विवाद होने लगा था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र धुरंधर विद्वान् तथा महान् साहित्यकार होने के बावजूद सरल भाषा के समर्थक थे। उन्होंने शिक्षा आयोग के समक्ष गवाही देते हुए कहा था——

> "हिन्दी रचना से सम्पूर्ण फारसी शब्दों के निकालने का आग्रह करना भूल है। हम निम्न प्रकार की हिन्दी भी नहीं चाहते नभोमण्डल घनघटाच्छन्न होने लगा। विविध वट बाहुल्य से इस्ततः कुज्झटिका नियात द्वारा रसातल तमोमय हो गया।" और न निम्न शैली की उर्दू चाहते हैं—"चूंकि दावा-ए-मुद्दई बिल्कुल बईद-अज-अक्ल व गुजिश्ता-अज-हद्दे-समआत व खिलाफ अज-कानून-ए-मुरव्विजा-ए-मुल्क-ए-महरूसा-ए सरकार है।" हम विशुद्ध सरल भाषा चाहते हैं, जिसे जनता समझती है और जो बहुसंख्य लोगों की लिपि में लिखी जाती है। विज्ञान की पुस्तकों में हमें प्राविधिक शब्दों का प्रयोग अवश्य करना पड़ता है क्योंकि उनके लिए हमारी भाषा में समानार्थक शब्द नहीं है। परन्तु हम चाहते हैं कि बच्चों की स्कूली पुस्तकों के लिए, अदालती, कागजों में, समाचार-पत्रों में और सार्वजनिक भाषणों में सरल और सामान्य वार्तालाप की भाषा का प्रयोग हो, उसे ही हम सच्चे और सही अर्थों में अपनी मातृभाषा कह सकते हैं।[१]

जब संस्कृत या फारसी शब्दों का प्रयोग हिन्दी की कमी के कारण अनिवार्य हो जाता है तब खड़ी बोली दो भागों में विभक्त हो जाती है। तब यह मत जिसमें अभिलाषा की मात्रा अधिक है, ठहर नहीं सकता कि हिन्दी तथा उर्दू एक ही भाषा है या इन्हें एक सरल भाषा का रूप दिया जा सकता है। "मालूम" जैसे शब्दों का प्रयोग हिन्दी में विना किसी आपत्ति के हो सकता है और भाषा के हित में होना भी चाहिए, परन्तु जब अंग्रेजी शब्द "कान्स्टीट्यूशन" के लिए उपयुक्त भारतीय शब्द का चयन करना होगा, तब "ऐन" के बजाय "संविधान"

---

१. भारतेन्दु के अंग्रेजी वक्तव्य से अनूदित।

को वरीयता देनी पड़ेगी, क्योंकि उसका आधार संस्कृत है, जब कि "ऐन" का आधार फारसी है। दीर्घकाल के मुस्लिम शासन के फलस्वरूप मुसलमानों में जो भावना और लगाव पैदा हुआ उसमें फारसी के प्रति शतप्रतिशत पक्ष-पात था। "पक्षपात" का प्रयोग संस्कृत के प्रति इसलिए नहीं किया जा सकता कि संस्कृत तो खड़ी बोली के लिए स्वाभाविक सूत्र थी। फारसी के प्रति जो भावना और लगाव पैदा हो गया था उसका कारण ऐतिहासिक घटनाएँ थीं। वे आयीं और गयीं तथा देश के एक संप्रदाय पर अपना कुछ स्थायी प्रभाव छोड़ गयीं। परन्तु परिवर्तित राजनीतिक दशा में जब संस्कृत या फारसी में से एक को चुनना होगा तो संस्कृत को वरीयता दी जायगी क्योंकि वह भारतीय भाषा है। यदि दोनों में से एक को परित्यक्त करना है, तो फारसी को ही करना पड़ेगा।

इस तर्क को स्वाभाविक प्रवाह मिलना चाहिए था; परन्तु वह न मिल सका। ऐतिहासिक घटना चक्र के प्रभाव ने मुस्लिम नेताओं को पूर्णतया वशीभूत कर लिया, और वे मुसलमानों को एक पृथक् राजनीतिक सम्प्रदाय मानने लगे। भाषा भी राजनीतिक संग्राम का एक अंग बन गयी। ३ और ६ के विमुख अंकों की भाँति एक ओर हिन्दी संस्कृत के शब्दों से सज-धज आगे बढ़ रही थी, और दूसरी दिशा में उर्दू फारसी के शब्द-भंडार का बोझ अपने सिर पर लाद कर चल रही थी। महात्मा गांधी राजनीतिक समझौते के लिए प्रयत्नशील थे ; अतः उन्होंने सरल भाषा की युक्ति प्रस्तुत की, और कहा कि उसे "हिन्दुस्तानी" के नाम से राष्ट्रभाषा माना जाय। उनका ख्याल था कि इस युक्ति से हिन्दी-उर्दू वैमनस्य तथा प्रथकता ही दूर नहीं हो जायेगी, वरन् यह सरल भाषा "हिन्दुस्तानी" अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की बोली भी हो जायेगी। इस प्रयत्न में वह आजीवन लगे रहे।

अध्याय १०

हिन्दुस्तानी

प्रत्यक्ष है कि 'हिन्दुस्तानी' शब्द हिन्दुस्तान से बनाया गया है जैसे हिन्द से हिन्दी ; अहिन्दी क्षेत्रों की प्रचिलित बोलचाल में हिन्दुस्तान हिन्दी भाषी क्षेत्र कहलाता था। नामकरण के इस भौगोलिक आधार से यह प्रतीत होना चाहिए कि भाषा एक ही है; केवल उसे विभिन्न कालों में दो विभिन्न नामों से पुकारा गया है। परन्तु वास्तविकता इस व्याख्या से भिन्न है। उन्नीसवीं शती में हिन्दी सर्वप्रचिलित शब्द था। पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है कि उर्दू पहले से ही एक नयी शैली बन चुकी थी, और जनता तथा सरकार के सामने यह समस्या थी कि इन दोनों भाषाओं का एकीकरण किस प्रकार हो। क्या यह संभव था? उद्देश्य यह था कि जनता के लिए एक सर्वग्राह्य सामान्य भाषा का विकास होना चाहिए। यह एक दुर्लभ काम था, क्योंकि सर्वग्राह्य भाषा का निर्माण करते समय किसी एक सहायक भाषा, संस्कृत या फारसी, की ओर झुकाव होना स्वाभाविक है, बिरले ही व्यक्ति इस मनोवृत्ति से संगरहित हो सकते हैं। फ़ोर्ब्स तथा फालन भी जिन्होंने उन्नीसवीं शती में 'हिन्दुस्तानी' शब्द कोष तैयार किये थे और जो शायद हिन्दुस्तानी, शब्द के प्रथम प्रचारक हैं, इस दोष से मुक्त नहीं हैं। फोर्ब्स ने उर्दू को अपने शब्दकोष का आधार बनाया, तथा फालन ने ग्रामीण हिन्दी बोली को प्रधानता दी।

हिन्दुस्तानी के विकास की अव्यावहारिकता पर विद्वानों के अतिरिक्त किसी का ध्यान नहीं गया। जिस प्रसंग में सरकार के सामने हिन्दुस्तानी शब्द के प्रयोग का सुझाव आया वह कोरा प्रशासकीय था। हिन्दी-भाषी क्षेत्र में जो भाषा जन-साधारण बोलते हैं वह न तो हिन्दी है (जो संस्कृत के ऋण से संपन्न हुई है) और न उर्दू है (जिसे फारसी तथा अरबी के शब्दों ने भाषा का रूप दिया है)। वह इन दोनों भाषाओं के शब्दों की सहायता से बनी बोली है। जब १८९१ की जनगणना होनेवाली थी, तो पश्चिमोत्तर प्रान्त की सरकार के सामने यह प्रश्न आया कि जन साधारण की बोली को क्या संज्ञा दी जाय—शिक्षित वर्ग की भाषा को तो हिन्दी या उर्दू लिखा जा सकता है, परन्तु प्रश्न सामान्य बोली का था। उसने सीमित प्रयोग

के 'हिन्दुस्तानी' शब्द को उपयुक्त समझा और गणना विभाग को सूचित कर दिया कि "हिमालय के जिलों के अतिरिक्त जो भाषा इन प्रान्तों में सर्वत्र सामान्य रूप से बोली जाती है उसे 'हिन्दुस्तानी' के नाम से दर्ज किया जायगा।"

फिर जन-गणना के सम्बन्ध में ही लिपि का प्रश्न उठा। गणना का कार्य सम्पादन करने वाले अमले को जो फार्म दिये गये वे अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू तीनों की लिपियों में छापे गये थे। एक चौथी लिपि भी थी, जिसका प्रचार प्रदेश में फैला हुआ था—वह थी कैथी लिपि। इस प्रकार एक हिन्दुस्तानी भाषा की तीन प्रचिलित लिपियाँ थीं। सरकार ने जिलाधीशों से पूछा कि क्या गणना के फार्मों में उक्त तीन लिपियों के अतिरिक्त कैथी लिपि को भी सम्मिलित कर लिया जाय? प्रायः सभी जिलाधीशों ने एक ही उत्तर दिया—नहीं। उन्होंने कहा कि यद्यपि अमले में सब लोग कैथी लिखने के आदी हैं, पर वे नागरी पढ़ सकते हैं। जिलाधीशों ने कैथी से संबंधित यह कठिनाई भी प्रकट की कि प्रत्येक जिले की कैथी लिपि एक दूसरी से भिन्न है; अतः फार्मों में इस अतिरिक्त लिपि को सम्मिलित करना असंभव है। इस धारणा ने कैथी लिपि को धीरे-धीरे समाप्त कर दिया और उसका स्थान नागरी को दे दिया।[१]

डाक्टर मैक्समुलर ने 'हिन्दुस्तानी' की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से की है। उनके कथनानुसार "हिन्दुस्तानी उस संस्कृत की पुत्री नहीं है, जिसका प्रयोग वेदों तथा ब्राह्मणों के बाद के साहित्य में किया गया है। हिन्दुस्तानी भारत की जीवित बोली की एक शाखा है, जो उसी तने से फूटकर निकली है जिससे संस्कृत निकली है।" इस व्याख्या से यह ध्वनि निकलती है कि संस्कृत की भाँति हिन्दुस्तानी भी एक भाषा है, जन-समूह की साधारण बोली से भिन्न, अर्थात् वह हिन्दी का पर्यायवाची शब्द है। इस हिन्दुस्तानी में फारसी का प्राकृतिक जीवनतत्व नहीं हो सकता; यह बात और है कि शाखा को तने से काटकर उसे विदेशी सामग्री से सजाकर समय के अनुसार उपयुक्त बना दिया जाय।

मैक्समुलर की व्याख्या के बाद हिन्दुस्तानी की दो अन्य परिभाषाएँ हुईं जो उनकी परिभाषा की भाँति वैज्ञानिक नहीं थीं; एक तो वह जो (सन् १८९१) में सरकार ने की; दूसरी वह जो राजनीतिक संघर्ष तथा हिन्दू-मुस्लिम मतभेद के काल में राष्ट्रीय नेताओं ने, विशेषकर महात्मा गांधी ने की। महात्मा गांधी का

---

१. भारत की जन-गणना, १८९१, पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा अवध का प्रतिवेदन, पृ० ४२

उद्देश्य महान् था। वह चाहते थे कि उत्तरी भारत की साधारण बोली—हिन्दुस्तानी—सर्वत्र भारत की राष्ट्रभाषा बन जाय। उनका हिन्दी या हिन्दुस्तानी ज्ञान कम था, फिर भी राजनीतिक सम्मेलनों में वह इसी भाषा में बोलते थे। भारत के राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने के प्रथम दिन से ही उन्होंने यह नियम बना लिया था। उस जमाने में कांग्रेस तथा अन्य उच्च राजनीतिक संस्थाओं की कार्यवाही अंग्रेजी में होती थी, और अंग्रेजी भाषी वक्ता भारतीय भाषा-भाषी की अपेक्षा अधिक शिक्षित तथा अधिक आदरणीय माने जाते थे। महात्मा गांधी ने भारत की राजनीति में पदार्पण करते ही बीसों वर्षों की मान्यता का रुख बदल दिया। सन् १९१६ में उन्होंने बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन (कांग्रेस का वार्षिक प्रान्तीय जलसा) के मंच से, पूना जैसे अहिन्दी नगर में हिन्दी में भाषण करके श्रोताओं के मन में यह विचार पैदा कर दिया कि भारत की राष्ट्रभाषा (अंग्रेजी नहीं) हिन्दी होनी चाहिए। सन् १९१७ में उन्होंने, सरकार द्वारा आमंत्रित युद्ध सम्मेलन में भी अपने एक वाक्य का भाषण हिन्दी में ही किया; श्रोता अति अचंभे से उनकी ओर देखने लगे, क्योंकि प्रथम बार सरकारी सभा में एक भारतीय भाषा को भाषण का माध्यम बनाया गया था।

उनकी प्रेरणा और प्रयत्न के फलस्वरूप सन् १९१८ से कांग्रेस के वार्षिक जल्सों में अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी का भी प्रयोग होने लगा, बल्कि अंग्रेज़ी की अपेक्षा अधिक हो गया। इस पर श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने आपत्ति की और निराशा की ध्वनि में कहा कि हिन्दुस्तानी के प्रयोग के कारण "यह राष्ट्रीय सम्मेलन प्रांतीय हो गया है।" इसके उत्तर में महात्मा गांधी ने (२१ जनवरी १९२० के "यंग इंडिया" में) लिखा: मैंने सन् १९१५ से कांग्रेस के (एक के अलावा) सभी अधिवेशनों में भाग लिया है। इन अधिवेशनों का मैंने इस अभिप्राय से अध्ययन किया है कि कार्यवाही को अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दुस्तानी में चलाने से कितनी उपयोगिता बढ़ जायेगी। मैंने सैकड़ों प्रतिनिधियों तथा हजारों अन्य व्यक्तियों से बातचीत की है और मैंने अन्य सभी व्यक्तियों से अधिक विशाल क्षेत्र का दौरा किया है और अधिक शिक्षित तथा अशिक्षित लोगों से मिला हूँ—लोकमान्य तिलक तथा श्रीमती बेसेन्ट से भी अधिक—और मैं इस दृढ़ निश्चय पर पहुंचा हूं कि हिन्दुस्तानी (जो हिन्दी तथा उर्दू के मिलन से उत्पन्न हुई है) के अलावा सम्भवतः कोई ऐसी भाषा नहीं है, जो विचार विनिमय या राष्ट्रीय कार्यवाही के लिए राष्ट्रीय माध्यम बन सके। मेरा दृढ़ मत यह भी है—और यह व्यापक अनुभव पर आधारित है—कि दो वर्ष के अलावा विगत वर्षों में कांग्रेस की कार्यवाही अंग्रेजी में होने के फलस्वरूप हमारे

राष्ट्र को अत्यधिक हानि पहुँची है। मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मद्रास प्रान्त को छोड़कर अन्य सब प्रान्तों के प्रतिनिधि तथा दर्शक जो कांग्रेस में आते हैं, अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दुस्तानी अधिक समझ लेते हैं। मद्रास प्रान्त के बाहर के श्रोतागण न्यूनाधिक हिन्दुस्तानी बिना कठिनाई के समझ लेते हैं। उत्तरी भारत के बाहर भी दयानन्द सरस्वती अपने प्रभावशाली भाषणों से श्रोताओं को वशीभूत कर लेते थे; उनकी हिन्दुस्तानी जन-साधारण बिना कठिनाई के समझ लेते थे।"

२ फरवरी सन् १९२१ के "यंग इंडिया" में उन्होंने देश प्रेम से सने हुए ये शब्द लिखे :—

"बंगाल और मद्रास ही ऐसे दो प्रान्त हैं जो हिन्दुस्तानी के ज्ञान की कमी के कारण शेष भारत से अलग हैं ; बंगाल इसलिए कि वहां के लोगों को भारत की कोई अन्य भाषा सीखने के प्रति विरोधाभास है, और मद्रास इसलिए कि द्रविड़ लोगों को हिन्दुस्तानी सीखने में कठिनाई होती है। यदि एक औसत दर्जे का बंगाली तीन घन्टे प्रति दिन समय दे तो वह दो मास में हिन्दुस्तानी सीख सकता है, और इतने ही परिश्रम से एक द्रविण छः मास में सीख सकता है। अंग्रेजी के ज्ञान से तुलनात्मक बहुत कम अंग्रेजी-ज्ञाता भारतीयों से संसर्ग होता है, परन्तु हिन्दुस्तानी ज्ञान से हमारा अधिकतम देशवासियों से संसर्ग हो सकता है। द्राविड़ लोगों को जो कठिनाई होगी, उसका मुझे आभास है, परन्तु उनके सक्रिय देश प्रेम के सामने कोई काम कठिन नहीं है।"

इस लेख के बाद भी महात्मा गांधी ने बहुत बार भाषा सम्बन्धी विवाद पर वक्तव्य दिये तथा भाषण किये। अन्तरप्रान्तीय भाषा के लिए उन्होंने तीन शब्दों का प्रयोग किया—हिन्दुस्तानी, हिन्दी और हिन्दी-हिन्दुस्तानी। संदर्भ के साथ पढ़ने से प्रतीत होता है कि इन तीनों शब्दों से उनका तात्पर्य सदैव एक ही था, अर्थात् वह सादी भाषा जो उक्त व्याख्या के अनुसार हिन्दुस्तानी कहलाई जाने लगी थी। राजनीतिक प्रसंग में अधिक प्रचलित शब्द 'हिन्दुस्थानी' ही था। महात्मा गांधी ने अपने अभिभाषण में, जो उन्होंने सन् १९२४ की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से दिया था, इसी शब्द का प्रयोग किया था। अगले वर्ष कांग्रेस के भाषा सम्बन्धी प्रस्ताव में भी इसीं का प्रयोग किया गया। अंग्रेजी राज के भारतीयकरण की दिशा में यह प्रस्ताव अति महत्वपूर्ण है। इसमें कहा गया कि "कांग्रेस यह संकल्प करती है कि कांग्रेस की कार्यवाही यथासंभव हिन्दुस्तानी में हुआ करेगी। यदि कोई वक्ता हिन्दुस्तानी बोलने में असमर्थ है, तो वह अंग्रेजी में या किसी प्रान्तीय भाषा में बोल सकता है।"

पुराने पत्रों के पन्ने उलटने से मालूम होता है कि महात्मा गांधी ने 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग १९२०-२२ के खिलाफत आन्दोलन के जमाने से आरम्भ किया। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद 'मित्र-राष्ट्रों' ने जिनका नेता ब्रिटेन था, तुर्की साम्राज्य को विघटन करने का निर्णय किया था। युद्ध में तुर्की विरोधी पक्ष में था, अतः दंड के रूप में यह कदम उठाया गया था। तुर्की का मुस्लिम संसार में बहुत महत्व था, क्योंकि वहां का शासक मुहम्मद साहब का उत्तराधिकारी होने के नाते खलीफा कहलाता था; (खिलाफत उसके पद का नाम था)। अन्य मुसलमानों की भांति भारत के मुसलमान उसको पूज्य मानते थे ; वह उनका धार्मिक अधिष्ठाता था। अतः भारत के शिक्षित मुस्लिम वर्ग के नेताओं ने विघटन की घोषणा के विरुद्ध आवाज उठाई। महात्मा गांधी ने, जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के सबसे बड़े हामी थे, कहा कि इस मामले में हिन्दुओं को मुसलमानों का साथ देना चाहिए। उन्हंने इतना उत्साह दिखाया कि वह आन्दोलन के नेता मान लिये गये। उस हिन्दू-मुस्लिम सहयोग तथा सरकार विरोधी असहयोग के काल में आपसी मतभेद के कई विषय उठे और उन पर उदारता के साथ विचार विनिमय हुआ। दृष्टांत के लिए गोहत्या के मामले में मुस्लिम नेताओं की ओर से कहा गया कि मुसलमानों का यह धर्म है कि वे हिन्दुओं की भावनाओं का आदर करें और गोहत्या स्वयं छोड़ दें। ऐसे भ्रातृत्व के वातावरण में भाषा के प्रश्न पर भी ध्यान गया, और हिन्दुस्तानी मध्यमार्गी के रूप में अपनायी गयी ; यह कोई विधिवत समझौता नहीं था, बल्कि मन से स्वतः निकली हुई सद्भावना थी।

खिलाफत आन्दोलन से पहले महात्मा गांधी 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग करते थे—'हिन्दी' से उनका तात्पर्य सदैव सरल भाषा से होता था। मद्रास में जो संस्था सन् १९१८ में उनकी प्रेरणा से स्थापित हुई, उसका नाम 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' था, परन्तु एक या दो वर्ष बाद उन्होंने जो संस्था 'गुजरात विद्यापीठ' के नाम से स्थापित की उसके उद्देश्यों से मालूम होता है कि तब तक नाम के बारे में उनका विचार बदल गया था। 'गुजरात विद्यापीठ' के उद्देश्यों में उन्होंने यह उपबन्ध किया—

> "विद्यापीठ के पाठ्यक्रम में राष्ट्रीय भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी का शिक्षण अनिवार्य होगा।
>
> टिप्पणी—हिन्दी-हिन्दुस्तानी वह भाषा है, जो उत्तरी भारत के हिन्दू और मुसलमान साधारणतया बोलते हैं और जो नागरी या फारसी लिपि में लिखी जाती है।"

जब 'हिन्दुस्तानी' शब्द पर बल दिया जाने लगा तो मद्रास की उक्त सभा के नाम में भी परिवर्तन कर दिया गया, अर्थात् अब उसका नाम "दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा" हो गया।

अपनी सभाओं में महात्मा गांधी हिन्दी-हिन्दुस्तानी का माध्यम अपनाने के लिए आग्रह करते थे। दिसम्बर, सन् १९२७ का एक उदाहरण यहां प्रस्तुत है। झरिया की कोयले की खानों के मजदूरों की ओर से एक विराट सभा में उन्हें अभिनन्दन पत्र भेंट किया गया। वह अंग्रेजी में था। (महात्मा गान्धी के आग्रह पर वह पढ़ा नहीं गया।) इस घटना पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने २० जनवरी १९२७ के 'यंग इण्डिया' में लिखा—

> "उन हजारों लोगों में जो सभा में आये थे, मुश्किल से शायद पचास अंग्रेजी जानते होंगे। भारी बहुसंख्या उनकी थी जो हिन्दी आसानी से समझ सकते थे, और एक बड़ी संख्या उनकी थी जो बंगाली जानते थे। उक्त संगठन के अगुआ बंगाली व्यक्ति थे। यदि अंग्रेजी का प्रयोग मेरे लिए किया गया था तो मैं कहूंगा कि वह व्यर्थ था। वे अभिनन्दन-पत्र बंगला में लिख सकते थे और मुझे उसका हिन्दी या अंग्रेजी अनुवाद दे सकते थे। परन्तु यदि अंग्रेजी अभिनन्दन-पत्र उस बड़ी सभा पर थोपा जाता तो नेताओं का अनादर ही होता। मैं आशा करता हूँ कि शीघ्र ही वह समय आ रहा है जब श्रोतागण ऐसी सभाएं छोड़कर चले जायंगे जहां सभा की कार्यवाही उस भाषा में की जाती है जिसे अधिकांश लोग नहीं समझ सकते।"

दिसम्बर १९२७ में गांधीजी को गंजाम जिले के छत्रपुर स्थान में एक सार्वजनिक भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया, और यह अनुरोध किया गया कि वह अंग्रेजी में बोलें। उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा—"मैं इस अनुरोध को मातृभूमि की भाषापुत्री के प्रति अभक्ति का द्योतक मानता हूँ। मैं अंग्रेजी से घृणा नहीं करता, परन्तु हिन्दी के लिए मेरा प्रेम अधिक है। यही कारण है कि मैं भारत के पढ़े-लिखे वर्गों से अनुरोध कर रहा हूँ कि वे हिन्दी को सामान्य भाषा बनाएं। हिन्दी के माध्यम से ही हम प्रान्तों की अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आ सकते हैं, और उनके विकास में सहायता दे सकते हैं।"

अध्याय ११

अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दुस्तानी

सन् १९१८ में महात्मा गांधी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन का, जो इंदौर में हुआ था, अध्यक्ष पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया गया था। उन्होंने अपने अभिभाषण में अपनी सर्वविदित हिन्दी की व्याख्या को दोहराया। यहां उन्होंने समझाने का कुछ अधिक आकर्षक ढंग अपनाया—"जो मधुरता मुझे ग्राम की हिन्दी में मिलती है वह न तो लखनऊ के मुसलमानों की बोली में है और न प्रयाग के हिन्दुओं की। भाषा की नदी का उद्गम जनता के हिमालय में है। हिमालय से निकली हुई गंगा हमेशा बहती रहेगी। इसी प्रकार ग्राम की हिंदी हमेशा बहती रहेगी, जबकि संस्कृतमय तथा फारसीमय हिन्दी, छोटी नदी की भाँति जो छोटी सी पहाड़ी से निकलती है, सूख जायेगी और लोप हो जायेगी। हिन्दी और उर्दू का सद्संगम उतना ही सुन्दर होगा जितना गंगा और यमुना का, और वह सदैव रहेगा।"

महात्मा गांधी की परिभाषा को सम्मेलन ने अंगीकार कर लिया। सन् १९३५ के अधिवेशन में उन्हें फिर अध्यक्ष पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया गया। यह अधिवेशन भी इन्दौर में हुआ। उन्होंने अपनी पुरानी व्याख्या को दोहराया। और सम्मेलन ने उसे पुनः अंगीकार किया। इस बार उन्होंने हिन्दी प्रचार के लिए एक नया भारी कदम उठाया। उन्होंने सम्मेलन को यह परामर्श दिया कि वह मद्रास की दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की भांति एक और स्वायत्त संस्था स्थापित करे जो पश्चिमी और पूर्वी भारत में हिन्दी प्रचार का काम करे। उन्होंने मद्रास की सभा के काम को अधिक दृढ़ और कुशल बनाने के लिए एक लाख रुपये का चन्दा भी एकत्रित किया।

कुछ समय पश्चात् महात्मा गांधी तथा सम्मेलन में मतभेद आरंभ हुआ। जैसा कि ऊपर कहा गया है वह चाहते थे कि नयी संस्था स्वशासित हो जिससे कि वह सम्मेलन के उद्देश्य तथा मत में संभावित परिवर्तन के बावजूद, निर्बाध रूप से, बुनियादी सिद्धान्तों से बिना हटे, प्रचार कार्य करती रहे। अभिप्राय यह था कि

राष्ट्रीय तथा राजनीतिक दृष्टिकोण को सामने रखना होगा और "हिन्दी-हिन्दुस्तानी" का प्रचार करना होगा। सम्मेलन ने यह परामर्श नहीं माना, और अपनी ही एक समिति नियुक्त की जिसे उसी के नियंत्रण में काम करना होगा। इस समिति का कार्यालय वर्धा में खोला गया, और वह वर्धा समिति के नाम से प्रसिद्ध हुई। काका साहब कालेलकर इसके कर्त्ता-धर्ता नियुक्त किये गये। महात्मा गांधी ने अपने मत की स्वीकृति के लिए आग्रह नहीं किया और वह अपने स्वभावानुसार इस समिति को सहयोग प्रदान करने लगे।

परन्तु मतभेद फिर उठा। सन् १९३७ में भारत के लोकतंत्रीय विकास का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। प्रान्तीय स्वशासन योजना के अन्तर्गत प्रान्तों में राजनीतिक दलों के मंत्रिमंडल बनाये गये थे; शासन संचालन में उनका पूरा हाथ था। अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेस दल के मंत्रिमंडल थे जिन्होंने आधारभूत सुधारों के कार्यान्वयन की ओर ध्यान दिया। उन सुधारों में हिन्दी या हिन्दुस्तानी प्रचार का महत्वपूर्ण स्थान था। सबसे पहले सन् १९३७ में बम्बई प्रान्त के मंत्रिमंडल ने, जिसके मुख्यमंत्री श्री बाल गंगाधर खेर थे, हिन्दुस्तानी शिक्षण समिति की स्थापना की। समिति को यह दायित्व सुपुर्द किया गया कि वह महात्मा गांधी की हिन्दी-हिन्दुस्तानी सम्बन्धी नीति को बम्बई प्रान्त में कार्यान्वित करे। सरकार ने यह भी निश्चय किया कि पांचवीं कक्षा के प्रत्येक मान्यता-प्राप्त स्कूल में हिन्दुस्तानी तथा नागरी या उर्दू लिपि की शिक्षा दी जायेगी।

इस समिति की उत्पत्ति के बाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया। उसने राजनीतिक मध्यममार्ग त्याग कर केवल हिन्दी तथा नागरी को अपना लिया। दिसम्बर १९४१ में उसने अपने वार्षिक अधिवेशन में निम्न प्रस्ताव पारित किया :—

"वास्तव में उर्दू भी हिन्दी से उत्पन्न अरबी-फारसी मिश्रित एक रूप है। हिन्दी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है। किन्तु उर्दू की साहित्यिक शैली, जो थोड़े से आदमियों तक सीमित है, हिन्दी से इस समय इतनी भिन्न हो गयी है कि उसकी पृथक स्थिति सम्मेलन स्वीकार करता है और उसे हिन्दी की शैली से भिन्न मानता है।

"'हिन्दुस्थानी' या 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग मुख्यकर इसलिए हुआ करता है कि देशी शब्द व्यवहार से प्रभावित हिन्दी शैली तथा अरबी-फ़ारसी शब्द व्यवहार से प्रभावित उर्दू शैली, दोनों का एक शब्द से एक समय में निर्देश करे। कांग्रेस में, हिन्दुस्तानी एकेडमी में, और कुछ गवर्नमेन्ट

विभागों में इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है और होता है। कुछ लोग इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की भाषा के लिए भी करते हैं जिसमें हिन्दी और उर्दू शैलियों का मिश्रण हो। इस प्रकार निश्चित अर्थ में उर्दू और हिन्दुस्तानी शब्दों का प्रचलन है। इस विषय में सम्मेलन का कोई विरोध नहीं है। किन्तु सम्मेलन साहित्यिक तथा राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से अपनी समितियों के काम में हिन्दी शैली का तथा उसके लिए हिन्दी शब्द का ही व्यवहार और प्रचार करता है।"

इस प्रस्ताव से यह स्पष्ट हो गया कि सम्मेलन हिन्दुस्तानी का प्रतिपादन नहीं करेगा, बल्कि विशुद्ध हिन्दी अपनायेगा। इससे यह भी प्रत्यक्ष हो गया कि सम्मेलन की नयी नीति से महात्मा गांधी तथा अन्य राजनीतिक नेताओं के सिद्धांत का हनन हो जायेगा। अतः उन्होंने वर्धा में एक नयी संस्था स्थापित की, जिसका नाम "हिन्दुस्तानी प्रचार सभा" रखा गया। सभा के प्रथम पंक्ति के सदस्यों में पण्डित जवाहरलाल नेहरू, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, मौलाना अबुलकलाम आजाद आदि थे। पण्डित नेहरू ने एक छोटी सी पुस्तिका में अपने विचार भी व्यक्त किये। (पुस्तिका कांग्रेस साहित्य के साथ १९३७ में प्रकाशित हुई थी।) सिद्धान्ततः उनकी और महात्मा गांधी की नीति समान थी; उन्होंने उसे कुछ ब्योरे के साथ प्रस्तुत किया। संक्षेप में उनके विचार ये थे:—"बुनियादी अंग्रेजी की भांति बुनियादी हिन्दुस्तानी विकसित की जाय। यह साधारण भाषा हो, इसका व्याकरण साधारण हो, तथा इसकी शब्द-संख्या एक हजार के लगभग हो। अ-हिन्दुस्तानी क्षेत्रों में इसी बुनियादी हिन्दुस्तानी की शिक्षा दी जाय; लिपि (नागरी या उर्दू) की पसंद सम्बन्धित विद्यार्थी पर छोड़ दी जाय। हिन्दुस्तानी तथा एक विदेशी भाषा अनिवार्य विषयों के रूप में पढ़ाई जाय; विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम सम्बन्धित क्षेत्र की भाषा हो। हिन्दुस्तानीभाषी क्षेत्र में शिक्षा का माध्यम स्वभावतः हिन्दुस्तानी होगा, परन्तु विद्यार्थियों को दोनों लिपियां सीखने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा; मध्यम श्रेणी के शिक्षालयों के विद्यार्थियों को दोनों लिपियां सीखने के लिए अवश्य प्रोत्साहित किया जाय। हिन्दुस्तानी, उसकी दोनों लिपियों सहित, अखिल भारतीय भाषा मानी जाय।"

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के निर्णय के पक्ष वालों का सबसे बड़ा तर्क यह था कि भाषा की राजनीतिक परिधि में पड़कर सम्मेलन का रुख साहित्य की उन्नति के ध्येय से हटकर कोरे भाषा प्रचार पर केन्द्रीभूत हो जायेगा। महात्मा गांधी का मत इसके विपरीत था, जिसे उन्होंने विवाद के अवसर पर अधिक स्पष्ट कर दिया।

उन्होंने कहा कि मुख्य उद्देश्य है "प्रचार" जिससे कि धीरे-धीरे एक अखिल भारतीय भाषा प्रचलित हो जाय। अंग्रेजी को अन्तरप्रान्तीय भाषा के सिंहासन से पदच्युत करने के प्रसंग में यह आकांक्षा सर्वोच्च कोटि की आकांक्षा थी, और क्योंकि उस समय के राजनीतिक वातावरण में, जिसमें अंग्रेज शासक साम्प्रदायिक मतभेदों को लोकतांत्रिक सुधारों के मार्ग में गति-अवरोध के रूप में बढ़ा-चढ़ा के पेश करते थे, और राष्ट्रीय नेता भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भरसक प्रयत्न कर रहे थे, द्विलिपीय हिन्दुस्तानी ही उपयुक्त हल प्रतीत होती थी। इसलिए नागरी-हिन्दी का पक्ष लेकर उस हल को परित्यक्त करने का सुझाव अव्यावहारिक समझा गया। प्रान्तीय स्वशासन के (जिसका आगमन सन् १९३७ में हुआ) कोई बीस वर्ष पहले से महात्मा गांधी तथा उनके अनेक अनुयायी हिन्दुस्तानी के प्रचार में लगे हुए थे। जब बहुत से प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बन गये तो उन्हें प्रचार गति को तीव्रतर करने का अवसर मिला और उन्होंने इससे लाभ उठाया।

सन् १९३५ तक हिन्दुस्तानी ने जो प्रगति की थी उसका आभास महात्मा गांधी के अध्यक्षीय अभिभाषण से मिलता है जो उन्होंने उस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में दिया था। उनके प्रयत्न के फल का संक्षिप्त लेखा-जोखा, जो उन्होंने अपने अभिभाषण में दिया, यह है:—

> "दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार भारी कठिनाइयों से घिरा हुआ है। फिर भी १८ वर्षों के लगातार तथा संगठित प्रयत्नों के फलस्वरूप ६ लाख दक्षिणी भारतीय हिन्दी भाषा में प्रवेश पा चुके हैं। इस वर्ष ४२,००० परीक्षार्थी परीक्षा में बैठे हैं। जिन केन्द्रों में हिन्दी पढ़ाई जाती है उनकी संख्या ३,२०० है। छः सौ अध्यापक प्रशिक्षित किये जा चुके हैं। सन् १९३१ से स्नातक परीक्षा भी आरंभ कर दी गयी है। आज स्नातकों की संख्या ३०० है। सभा ने हिन्दी में ७० पुस्तकें प्रकाशित की हैं। मद्रास में इन पुस्तकों की ८ लाख प्रतियां छापी गयी थीं। सत्तरह वर्ष पहले दक्षिण के किसी स्कूल में भी हिन्दी नहीं पढ़ाई जाती थी। आज ७० स्कूलों में पढ़ाई जाती है। सब मिलाकर ७० कार्यकर्त्ता प्रचार कार्य में लगे हुए हैं, और अब तक चार लाख रुपये व्यय हो चुके हैं।"

महात्मा गांधी ने अपने अभिभाषण में उस विरोध का भी जिक्र किया जिसका हिन्दी प्रचारकों को सामना करना पड़ रहा था। कुछ लोगों को यह भ्रम पैदा हो गया था कि "हम क्षेत्रीय भाषाओं को नष्ट करके उनके स्थान पर हिन्दी को अखिल भारतीय भाषा के रूप में आसीन करना चाहते हैं।" इस भ्रम को दूर करने के

अभिप्राय से महात्मा गांधी ने कहा कि "हम क्षेत्रीय भाषाओं को कोई भी क्षति पहुंचाना नहीं चाहते। हम केवल यह चाहते हैं कि सब लोग हिन्दी सीखें, अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार के सामान्य माध्यम के रूप में। यदि हम भारत को एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं, तो हिन्दी ही हमारी राष्ट्रभाषा हो सकती है।"

दक्षिण में एक ओर हिन्दी के प्रति उत्साह था और दूसरी ओर भ्रम और भेद की भावनाएं थीं। इस वातावरण में मद्रास प्रान्त—उस समय देशी राज्यों के अलावा लगभग पूरा दक्षिण मद्रास प्रान्त में सम्मिलित था—की कांग्रेस सरकार ने, जिसके मुख्यमंत्री श्री चक्रवर्ती राजगोपालचारी थे, स्कूलों में हिन्दी का पठन चालू किया। १८ जून १९३८ को मद्रास सरकार ने एक विज्ञप्ति जारी की जिसमें उसने कहा:—

> "भारत के राष्ट्रीय जीवन में अधिकृत स्थान प्राप्त करने के हेतु हमारे प्रान्त के लिए यह जरूरी है कि हमारे शिक्षित युवक भारत की सर्वाधिक व्यापक भाषा का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करें। अतः सरकार ने प्रान्त के मध्यम स्कूलों के पाठ्यक्रम में हिन्दुस्तानी शिक्षा का विषय जोड़ने का निश्चय किया है। हिन्दुस्तानी के पाठन से मातृभाषा के पाठन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होगा ; हिन्दुस्तानी के विषय में असफलता के बावजूद भी विद्यार्थी को, यदि वह अन्य विषयों में पास है, परीक्षा में उत्तीर्ण समझा जायेगा।"

इस विज्ञप्ति में पुनरोक्ति के दोष को नजरअन्दाज करके, मातृभाषा पर बार बार जोर दिया गया था। कारण यह था कि हिन्दी विरोधी प्रचार बढ़ रहा था, और जहां तहां यह धारणा फैलती जा रही थी कि अन्ततोगत्वा हिन्दी क्षेत्रीय भाषाओं का स्थान ले लेगी। विज्ञप्ति के प्रकाशित होने के बाद विरोध की आंधी सी आ गयी। सभाएं हुईं, वक्तव्य प्रकाशित हुए, धरने दिये गये, और हिन्दी प्रचारकों पर गालियां पड़ने लगीं। तीन माह बाद महात्मा गांधी ने साप्ताहिक "हरिजन" (१० सितम्बर १९३८) में इस मामले पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि "मेरे पास ऐसे पत्रों और तारों की बाढ़ सी आ गयी है, जिसमें मद्रास के मुख्य मंत्री के कृत्य को 'भयानक दुष्कर्म' की संज्ञा दी गयी है ; कहा जा रहा है कि मातृभाषा खतरे में है।" महात्मा गांधी ने अपना तथा कांग्रेस का दृष्टिकोण समझाया, परन्तु विरोध चलता रहा। साथ साथ हिन्दी प्रचार भी जारी रहा, और हिन्दी-ज्ञाताओं की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही।

हिन्दी का क्या रूप होना चाहिए, उसे हिन्दुस्तानी का रूप देने से उसमें क्या विकार पैदा हो जायेगा, ये तथा इस प्रकार के अन्य प्रश्न अति महत्वपूर्ण हैं जिन्हें

किसी राजनीतिक कारण से दबाया नहीं जा सकता। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि हिन्दी का जितना भी प्रचार अहिन्दी क्षेत्रों में हुआ उसका लगभग पूर्ण श्रेय महात्मा गांधी तथा उनसे प्रेरित अन्य व्यक्तियों को है जिन्होंने राजनीतिक दृष्टिकोण को अपनाया और जिनका यह विश्वास भी था कि 'हिन्दुस्तानी' भाषा साहित्य का माध्यम भी हो सकती है। यह युक्ति किस हद तक ठीक थी एक विवादास्पद प्रश्न है जिसकी जटिलता को भारत-विभाजन के बाद की प्रतिक्रियाओं ने बहुत कुछ कम कर दिया है, क्योंकि विभाजन के बाद राजनीतिक मान्यताओं में परिवर्तन हो गया। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप सिद्धान्ततः तो हिन्दुस्तानी की चर्चा चलती रही, परन्तु व्यावहारिक झुकाव हिन्दी की ओर बढ़ने लगा—उस हिन्दी की ओर, जिसका हिन्दी सम्मेलन ने अपने १९४१ के वार्षिक अधिवेशन में पक्ष लिया था।

अध्याय १२

अन्तिम घटनाएं

सन् १९३५ के भारत शासन अधिनियम[1] के अन्तर्गत जब प्रान्तों में विधान सभाएं निर्वाचित हुईं तब अधिनियम का मुख्य लोकतंत्र-विरोधी तत्व नग्न रूप में सामने आया। कई प्रान्तों में, जिनमें हिन्दीभाषी प्रान्त प्रमुख थे, बहुमत दल कांग्रेस का था जिसके सदस्यों में विशाल संख्या हिन्दुओं की थी—मुसलमानों की संख्या नगण्य थी। वहां अल्प दल, अर्थात् विरोधी दल मुसलमानों का था जो मुस्लिम लीग के सदस्य थे। इस प्रकार विधान-सभा वस्तुतः दो संप्रदायों में विभाजित हो गयी। एक ओर हिन्दू थे और दूसरी ओर मुसलमान। कांग्रेस के लिए जो धर्मनिरपेक्ष थी, यह स्थिति अत्यन्त अप्रिय तथा खेदजनक थी; परिस्थिति ने उसे हिन्दू संस्था बना दिया था, यद्यपि वह अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ थी, जिसमें एक यह था कि हिन्दुस्तानी तथा नागरी व उर्दू लिपि का प्रचार हो।

परन्तु उसकी विशाल-हृदयता के बावजूद राजनीतिक घटनाचक्र ने उसके प्रयत्नों को विफल कर दिया। जब लोकतांत्रिक परम्परा के अनुसार प्रान्तों के गवर्नरों ने अपने अपने प्रान्त की विधान सभा के बहुमत दल के नेताओं को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया तो हिन्दू बहुमत के प्रान्तों में प्रश्न यह उठा कि मुसलमानों को भी प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। भारत शासन अधिनियम में यह उपबन्ध था कि अल्पसंख्यक जातियों को भी प्रतिनिधित्व दिया जायेगा। परन्तु इसके कार्यान्वयन के विषय में कोई विधि नहीं बतलाई गयी थी। अतः परंपरागत लोकतंत्रात्मक पद्धति का अनुकरण किया गया, और बहुमत के नेता का ही यह अधिकार समझा गया कि वह जिस मुसलमान या जिन मुसलमानों को चाहे मंत्रिमंडल में सम्मिलित कर ले। परंपरा के अनुसार नेताओं ने कांग्रेस विचार के मुसलमानों को लिया। इससे लीगी मुसलमान क्रुद्ध हो गये। उनका यह दावा था कि मुसलमान निर्वाचकों ने तो उन्हें चुना है; फिर कांग्रेसी मुसलमान मुसलमानों के प्रतिनिधि कैसे समझे जा सकते हैं। परन्तु कांग्रेस तो पृथक् निर्वाचन के ही विरुद्ध थी, इसलिए उसने लीगियों की आपत्ति की कोई परवाह नहीं की।

---

१. The Government of India Act, 1935.

इस मतभेद ने भयंकर संघर्ष का रूप धारण कर लिया। लीगियों ने कांग्रेस सरकार को हिन्दू सरकार की संज्ञा दी और यत्र-तत्र की अफवाहें तथा झूठी बातें एकत्र करके यह प्रचार किया कि यह सरकार मुस्लिम भावनाओं के विरुद्ध कृत्य कर रही है। इस प्रचार में सरकार की शिक्षा तथा भाषा सम्बन्धी नीति पर आक्रमण भी था। हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी के विषय में मतभेद तो था ही ; वह साम्प्रदायिक नहीं बल्कि सैद्धान्तिक था। कांग्रेस सरकार के लघु कार्यकाल में यह कुछ बढ़ गया। हिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी को पहले की अपेक्षा कुछ अधिक मान्यता मिलने लगी। कुछ सरकारी विभागों में भी उसका थोड़ा सा प्रयोग आरंभ हुआ। सरकारी अमले में कुछ उत्साही व्यक्ति ऐसे भी थे जो हिन्दुस्तानी के बजाय विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते थे। कांग्रेस शासन के उस काल में ही महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ, और मध्य प्रदेश के उत्साही संचालकों ने नयी पाठशालाओं का नाम 'विद्या-मंदिर' रखा। लीगी मुसलमान तो क्रुद्ध थे ही ; उन्होंने कहा कि कांग्रेस जीवन के प्रत्येक पहलू में उनके ऊपर हिन्दुत्व लाद रही है। कांग्रेस ने उर्दू को कोई हानि नहीं पहुंचाई थी; अदालतों में अब भी उर्दू पूर्ववत मौजूद थी। अन्तर केवल इतना हो गया था कि हिन्दी के प्रति जो अवहेलना थी उसे समाप्त करने की दिशा में कांग्रेस सरकार ने कदम उठाया था।

लीगियों के विरोध का वास्तविक कारण तो यह था कि उन्हें मंत्रिपदों से वंचित रखा गया था ; इसलिए उनका विरोध प्रचार जारी रहा, और वे यहां तक कहने लगे कि हिन्दू तथा मुसलमान दो राष्ट्रीय जातियां हैं। वे एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि वे एक शासन के अन्तर्गत रह ही नहीं सकतीं। अन्ततोगत्वा यह विचार परिपक्व हुआ और सन् १९४० में मुस्लिम लीग ने यह निश्चय किया और अंग्रेज सरकार से माँग की कि भारत को दो भागों में विभाजित कर दिया जाय—हिन्दू भारत तथा मुस्लिम भारत ; मुस्लिम भारत का नाम पाकिस्तान रखा गया। यह प्रचार इतना बढ़ा कि प्रायः सब मुसलमान इस मत के प्रतिपादक हो गये, और जब अंग्रेजों ने भारत को आजाद करने का निर्णय किया तो उसने मुसलमानों की इच्छानुसार भारत का विभाजन भी कर दिया।

यह एक ऐसा निर्णय था जिसने सन् १९४७ से पहिले की मान्यताओं की जड़ें हिला दीं। महात्मा गांधी अटल सिद्धान्तों के व्यक्ति थे, वह पुरानी मान्यताओं को नहीं छोड़ना चाहते थे। विभाजन के बाद भी भारत में मुसलमानों की एक बड़ी संख्या रह गयी थी ; अतः महात्मा गांधी ने कहा कि पुरानी मान्यताओं को ही भविष्य के निर्माण की आधार शिला बनाया जाय। स्वतंत्रता-प्राप्ति के एक माह बाद, उन्होंने

(२१ सितम्बर १९४७) के 'हरिजन' में पुनः लिखा कि अन्तरप्रान्तीय बोली हिन्दुस्तानी होनी चाहिए जो नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाय। २ नवम्बर १९४७ के 'हरिजन' में उन्होंने, बुनियादी शिक्षा की परिभाषा करते हुए, इस तथ्य को फिर दोहराया; परन्तु उनकी मृत्यु (३० जनवरी १९४८) के बाद धीरे-धीरे हिन्दुस्तानी के प्रति कांग्रेसी नेताओं का उत्साह भी ठंडा हो गया और यह प्रतीत होने लगा कि भारत की भाषा और लिपि हिन्दी तथा नागरी होगी। ऐसा ही हुआ। स्वतंत्र भारत के संविधान के अनुच्छेद ३४३ (१) में यह उपबन्ध रखा गया कि भारत की "राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।" संविधान के अनुच्छेद ३५१ में 'हिन्दुस्तानी' का भी जिक्र किया गया है; परन्तु यह जिक्र उस संदर्भ में प्रायः बिल्कुल नहीं है, जिसमें हिन्दुस्तानी की चर्चा ३० वर्ष से हो रही थी। इस अनुच्छेद में भारतीय संघ का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है कि "वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ायेगा और उसका विकास करेगा" ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावलि को आत्मसात करते हुए तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो, वहाँ उसके शब्द भंडार के लिए मुख्यतयः संस्कृत के तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं के शब्द ग्रहण करते हुए समृद्धि करेगा।

अष्टम अनुसूची में १४ मुख्य भारतीय भाषाओं के नाम दिये हुए हैं जिनमें एक उर्दू भी है। इस अनुसूची में हिन्दुस्तानी को शामिल नहीं किया गया है। शायद कारण यह है कि हिन्दी या उर्दू के समागम से एक नयी "आम फहम" भाषा—हिन्दुस्तानी—बनाने का प्रस्ताव कभी कार्यान्वित नहीं हो पाया; परन्तु वह प्रस्ताव हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रयत्न का एक अप्रथक्य अंग माना जाने लगा था; उसके साथ इतनी अधिक भावनात्मक संगत हो गयी थी कि उसका सहसा त्याग करना असंभव सा लगता था। भारत का विभाजन हिन्दू-मुस्लिम भिन्नता के कारण हुआ था। स्वतंत्रता के आगमन से लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व जो निर्वाचन भारत के विभिन्न प्रान्तों में हुए थे उनसे यह निश्चित हो गया था कि मुसलमान मतदाताओं का विशाल बहुमत मुस्लिम लीग के साथ है, और क्योंकि लीग ने पाकिस्तान की माँग को अपने निर्वाचन-पत्र का प्रमुख आधार बनाया था, इसलिए उसकी विजय ने यह सिद्ध कर दिया कि एकता का प्रयत्न विफल हो चुका है और भारत के राजनीतिक अड़ंगे का एक ही हल है, और वह है देश का दो भागों में विभाजन

हिन्दू भारत और मुस्लिम भारत। कांग्रेस का दृष्टिकोण नितांत भिन्न था। वह सदैव से यह विचार व्यक्त कर रही थी कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के मार्ग में अंग्रेज शासकों की शरारत बाधक है, यदि उसका शक्तिशाली अस्तित्व दोनों सम्प्रदायों के बीच में न होता तो एकता प्राप्त करने में कठिनाई न होती। कांग्रेस ने व्यावहारिक दृष्टिकोण को अपनाया। उसने कहा था कि देश के विभाजन के बाद भी तथाकथित हिन्दू भारत में तीन-चार करोड़ मुसलमान रह जायेंगे, तथा इनके साथ एकता की आवश्यकता भी रह जायेगी। यही परिस्थिति (मुस्लिम भारत) पाकिस्तान के समक्ष थी, वहाँ भी हिन्दुओं की संख्या लगभग दो करोड़ थी। पश्चिमी पाकिस्तान के लोगों ने यह प्रश्न वहाँ के हिन्दुओं को मार भगा कर हल कर लिया। और वहाँ की सरकार ने उर्दू तथा फारसी लिपि को राजभाषा के पद पर आसीन कर दिया। इन घटनाओं ने हिन्दुस्तानी के पक्ष का भावनात्मक तर्क बहुत कुछ समाप्त कर दिया। भारत ने प्रतिशोध की भावनाओं को बलपूर्वक दबाया, जिसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि मुसलमान लाखों की संख्या में पाकिस्तान चले गये, परन्तु करोड़ों की संख्या में वे भारत में रह गये।

परन्तु पाकिस्तान में जो घटनाचक्र चल रहा था तथा जिन मनोवृत्तियों ने पाकिस्तान को जन्म दिया था, उनकी भावनात्मक तथा तार्किक प्रतिक्रिया भारत में होनी चाहिये थी, और हुई भी। भावनात्मक प्रतिक्रिया यह थी कि जब मुसलमानों का एक अलग देश बन गया है और वहाँ उर्दू को राज-भाषा बना दिया गया है तो भारत की राजभाषा हिन्दी होनी चाहिए। तार्किक प्रतिक्रिया, भावना ही का विकसित तथा विश्लेषित रूप था। हिन्दी के समर्थकों ने कहा कि लाचारी की दशा में आयी हुई और एक बाह्य भाषा के शब्दों के ऋण से बनी हुई उर्दू तथा देश की सामग्री से पोषित और विकसित हुई हिन्दी को मिश्रित करके तथा दोनों में काट छांट करके एक नयी भाषा के निर्माण की आवश्यकता जिन राजनीतिक परिस्थितियों में पैदा हुई थी वे समाप्त हो चुकी हैं, और क्योंकि नागरी सरल, पूर्ण तथा वैज्ञानिक लिपि है तथा हिन्दी का भारत की बहुत सी अन्य भाषाओं की भांति संस्कृत से पूर्वज का नाता है; अतः भारत की राजभाषा हिन्दी तथा लिपि नागरी होनी चाहिए। यह वही तर्क था जो हिन्दी तथा नागरी के पक्ष में उस समय प्रस्तुत किया जा रहा था जब राजनीतिक मतभेदों के कारण हिन्दुस्तानी तथा दो लिपियों को हल के रूप में सुझाया जा रहा था। समर्थकों ने कहा कि किसी लिपि का किसी धर्म से सम्बन्ध नहीं होता; मुसलमानों को नागरी लिपि के प्रति कोई धार्मिक आपत्ति नहीं हो सकती, और न हिन्दी भाषा के प्रति ही होनी चाहिए।

परिशिष्ट—१

शिक्षा आयोग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र[1] का वक्तव्य

प्रश्न—१. यह बताने की कृपा करें कि भारत से प्रचलित शिक्षा के विषय में आपका मन्तव्य किन अनुभवों पर आधारित है, और वे अनुभव आपको किस प्रान्त में प्राप्त हुए ?

उत्तर——शिक्षा में सदैव ही मेरी अभिरुचि रही है। मैं संस्कृत, हिन्दी और उर्दू का कवि हूँ और पद्य तथा गद्य में मैंने बहुत सी पुस्तकों की रचना की है। मैंने "कवि वचन सुधा" नामक एक हिन्दी पत्रिका भी आरम्भ की थी, जो अब भी चल रही है। अपने देश-वासियों के शैक्षिक स्तर को ऊँचा उठाना, इस प्रान्त की भाषा में सुधार करना, तथा इस भाषा में साहित्य-वृद्धि करना सदैव से मेरा ध्येय रहा है। अपने देशवासियों की शैक्षिक उन्नति से मुझे सदैव हर्ष प्राप्त होता है। प्राथमिक शिक्षा के लिए मैंने बनारस में एक पाठशाला स्थापित की है। मैं बनारस शिक्षा समिति का सदस्य भी था, अतः मुझे शिक्षा विभाग से सम्बन्धित व्यक्तियों तथा अन्य विद्वानों के संपर्क में आने के बहुत अवसर मिलते रहे हैं। विद्योन्नति के उद्देश्य से मैंने सरकारी स्कूलों और कालिजों के विद्यार्थियों तथा विद्याव्यसनियों को पुरस्कार भी दिये हैं।

मैं पश्चिमोत्तर प्रान्त[2] का निवासी हूँ मेरा अनुभव इस प्रान्त तक सीमित है।

प्रश्न—२. क्या आपका यह मन्तव्य है कि आपके प्रान्त में प्राथमिक शिक्षा एक सुदृढ़ नींव पर स्थापित हो गयी है, और उसमें जनता की आवश्यकता के अनु-

---

१. आयोग के प्रतिवेदन में "बाबू हरिश्चन्द्र" लिखा है। (मूल वक्तव्य अंग्रेजी (परिशिष्ट २) में है ; अनुवाद इस पुस्तक के लेखक ने किया है।)

२. जिसके एक भाग का नाम बाद में संयुक्त प्रान्त पड़ा और अब उत्तर प्रदेश है। उस प्रान्त में तब मेरठ, रुहेलखण्ड, आगरा इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली जबलपुर, सागर तथा अजमेर डिवीजन सम्मिलित थे।

सार आगे बढ़ने की क्षमता है ? आप क्या तत्संबंधी शासन-व्यवस्था में तथा पाठ्य-क्रम में सुधार करने के लिये कोई सुझाव दे सकते हैं ?

उत्तर—अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि प्राथमिक शिक्षा एक सुदृढ़ नीव पर स्थापित हो गयी है, और यदि उसमें कुछ साधारण से संशोधन कर दिये जायं तो वह जनता की आवश्यकता के अनुसार और उन्नति कर सकती है।

मेरे विचार में शिक्षा समितियों द्वारा स्कूलों के प्रबन्ध-संचालन की वर्तमान पद्धति आपत्तिजनक है। समितियों के सरकारी सदस्यों को इतना समय नहीं मिलता कि वे दूर देहात में स्थापित स्कूलों की देख-रेख कर सकें। ग़ैर-सरकारी सदस्य ही बहुत संख्या में समिति की बैठकों में उपस्थित होते हैं। उनकी उपस्थिति का कारण यह नहीं है कि उनमें देश की शिक्षा के प्रति प्रेम या थोड़ा-सा भी चाव है, वरन् यह है कि वे इन समितियों की सदस्यता को गौरव मात्र समझते हैं, और इनके द्वारा उन्हें जिलाधीश के सम्मुख आसन ग्रहण करने का अवसर मिल जाता है। शिक्षा समितियों के बहुत से सदस्यों से मैं परिचित हूँ। उन्हें अपने प्रान्त की भाषा तक का ज्ञान नहीं है। कुलीन जनों में उनकी गणना होने के कारण उन्हें सदस्य बना दिया गया है। कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें कुलीन भी नहीं कहा जा सकता। शायद ही कभी मैंने किसी ऐसे ग़ैर सरकारी सदस्य को देखा होगा जो केवल देश-हित की दृष्टि से किसी जिला स्कूल में जाता हो या जिसे शिक्षा कार्य में सच्ची अभिरुचि हो। समितियों के सदस्यों को स्कूलों के सम्बन्धों में जो कुछ जानकारी होती है वह उन्हें पूर्णतया शिक्षा विभाग के अधिकारियों से प्राप्त होती है। यदि सरकार उनसे यह अनुरोध भी करे या उन्हें मजबूर करे कि वे स्कूलों के साथ व्यावहारिक संपर्क स्थापित करें, तब भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। कौन ऐसा व्यक्ति है जो अपने जिले के छोर पर स्थापित स्कूल का निरीक्षण करने के लिये यात्रा करेगा, और केवल इस उद्देश्य से कि वहाँ जाकर वह ग्रामीणों को यह उपदेश देगा कि बच्चों को पाठशाला भेजना उनके लिये हितकर होगा, या वहाँ जाकर यह मालूम करेगा कि चार रुपये की सूक्ष्म धन राशि जो समिति ने मरम्मत के लिये स्वीकृत की थी, वास्तव में व्यय की गयी है या नहीं, और अध्यापक अपने कर्त्तव्य का पालन करता है या नहीं। हो सकता है कि कहीं कोई व्यक्ति जनहित से प्रेरित होकर अपना समय और धन, बल्कि जीवन तक अर्पण करने के लिये निकल आये; परन्तु उसके प्रयत्न का मूल्य उतना ही होगा, जितना वर्षा की एक बूंद का समुद्र के लिये होता है। मेरा मत यह है कि देश की शिक्षा-संचालन के लिये एक पृथक्

विभाग होना चाहिये, वैसे ही जैसे पुलिस, माल, न्याय, डाक तार, आदि के संचालन के लिये अलग-अलग विभाग हैं। यदि कोई जनहितैषी व्यक्ति शिक्षा विभाग की सहायता करना चाहता है तो अच्छा यह होगा कि उसे स्कूलों का अवैतनिक इन्सपेक्टर या संयुक्त इन्सपेक्टर नियुक्त कर दिया जाय जिससे कि विभाग के प्रबन्ध में उसका भी हाथ हो जाय। शिक्षा बोर्ड की नाममात्र सदस्यता की अपेक्षा यह युक्ति अधिक उत्तम होगी।

शिक्षा समितियों का जितना ज्ञान मुझे है उसके आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि वे व्यर्थ-सी संस्थाएँ हैं। मैं कुछ ऐसे सदस्यों को जानता हूँ जिन्हें यह तक मालूम नहीं है कि उनके अधिकार-क्षेत्र में कितने स्कूल हैं, या तहसीली स्कूल और हल्काबन्दी स्कूल में क्या अन्तर है।

यह तो सच है कि शिक्षा अधिकारियों को जनता में पर्याप्त आदर नहीं मिलता, परन्तु इसके लिये विभाग दोषी नहीं है। इसका कारण यह है कि उनका कार्य अर्थात् स्कूलों का निरीक्षण और परीक्षण मूक प्रकृति का है, सरकार के अन्य विभागों से भिन्न। भारत में हुकुमत से आदर प्राप्त होता है। शिक्षा विभाग के अफ़सर न तो किसी व्यक्ति को हवालात में डाल सकते हैं, न उस पर जुर्माना कर सकते हैं, और न उससे रुपया ऐंठ सकते हैं। उनकी तुलना केवल धर्म-प्रचारकों से की जा सकती है। अज्ञात व्यक्ति की घृणा की परवाह किये बिना वे शुभ कार्य में लगे रहते हैं। इसके विपरीत, माल और पुलिस विभाग के नाम से लोगों में भय और प्रतिष्ठा की भावना पैदा होती है। यही कारण है कि माननीय सैयद अहमद खां बहादुर ने अपनी गवाही में यह सुझाव दिया है कि शिक्षा विभाग के लिये अतिरिक्त डिप्टी कलक्टर नियुक्त कर दिये जायं। इस दोष को दूर करने का सर्वोत्तम उपचार यह होगा कि इंगलैण्ड और अन्य यूरोपीय देशों की भाँति भारत में भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय, और जन-भाषी भाषा को अदालती भाषा बना दिया जाय तथा अदालत के काग़ज़ उस लिपि में लिखे जायं जिसे जनता के अधिकतम लोग पढ़ लेते हैं। इस प्रान्त की प्राथमिक पाठशालाओं में हिन्दी भाषा की लिपि का प्रयोग प्रायः पूर्णतया किया जाता है परन्तु अदालतों और दफ्तरों में फ़ारसी भाषा की लिपि का प्रयोग होता है; अतः उस प्राथमिक शिक्षा का जो एक ग्रामीण लड़का अपने गांव में प्राप्त करता है, कोई मूल्य नहीं है, कोई फल नहीं है। उसमें कोई आकर्षण ही नहीं रह जाता। वर्षों तक एक ग्राम पाठशाला में पढ़ने के बाद जब एक जमीन्दार का लड़का अदालत में जाता है तो उसे पता चलता है कि उसका सब परिश्रम व्यर्थ गया, अपने पूर्वजों की भाँति वह भी

बिल्कुल अज्ञान है, तथा वह उस घसीट लिपि (उर्दू) को पढ़ने में बिल्कुल असमर्थ है जो अदालत का अमला प्रयोग में लाता है। यदि एक निर्धन व्यक्ति के पुत्र को अपने (हिन्दी) ज्ञान के भरोसे पर जीविका साधन प्राप्त करने की अभिलाषा है तो उसे शिक्षा विभाग का द्वार खटखटाना पड़ेगा, अन्य विभाग उसे अशिक्षित कह कर वापिस कर देंगे।

प्रश्न—आपके प्रान्त में प्राथमिक शिक्षा की चाह सामान्यतः सब लोगों में है या केवल कुछ विशेष वर्गों में? कोई ऐसे वर्ग भी हैं जो शिक्षा से अलग रहना चाहते हैं, और यदि हैं तो इसका क्या कारण है। क्या कोई ऐसे वर्ग भी हैं जो शिक्षा से वंचित रखे जाते हैं, और यदि हैं तो इसका क्या कारण है? समाज के प्रत्येक वर्ग में प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करने के विषय में प्रभावशाली वर्गों की क्या प्रवृत्ति है?

उत्तर—शिक्षा की चाह सामान्यतः सब लोगों में है, वह किसी वर्ग विशेष तक सीमित नहीं है। यह तथ्य शिक्षा विभाग के प्रतिवेदनों से स्पष्ट हो जाता है। परन्तु मुझे अफसोस है कि तीन चार वर्षों में इन प्रतिवेदनों में जातियों के वर्गीकरण का उल्लेख नहीं किया जा रहा है। कोई ऐसा जन-वर्ग नहीं हैं जो प्राथमिक शिक्षा से अलग रहना चाहता है। डोम और मेहतर जैसे निम्न श्रेणी के लोग शिक्षा से लाभान्वित अवश्य नहीं हो पाते, क्योंकि वे दरिद्र हैं। किसी सीमा तक मुसलमान भी इसी श्रेणी में आते हैं, उनके विषय में दरिद्रता तथा हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक उदासीनता के अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि वे सरकारी स्कूलों में प्रचलित वर्तमान शिक्षा पद्धति से घृणा करते हैं। जनता के किसी भी वर्ग के लिए प्रारम्भिक शिक्षा का दरवाजा बन्द नहीं है। जनता के प्रभावशाली वर्ग, विशेषरूप से हिन्दू, जो नगरों और बड़े कस्बों में बसे हुए हैं—वे भी जो प्रान्तों में रहते हैं—मन से चाहते हैं कि सब लोग, चाहे वे उच्च कोटि के हों या निम्न कोटि के, प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करें।

हाँ क्षत्री और ब्राह्मण जातियों के जमींदारों में कुछ ऐसे लोग हैं, जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि वे अपनी निम्न श्रेणी की रिआया के लड़कों को शिक्षा से वंचित रखना चाहते हैं, ताकि वे उनके अज्ञान से लाभ उठा सकें। परन्तु ऐसे दृष्टान्त बहुत कम हैं।

प्रश्न—४. देशी शिक्षा प्रणाली के स्कूल किस परिमाण में प्रान्त में हैं? किस सीमा तक वे प्राचीन ग्राम पद्धति के अवशेष के रूप में हैं? क्या आप उनके पाठ्य विषयों तथा उनकी रूपरेखा का कुछ विवरण दे सकते हैं? उनमें अनुशासन

की क्या प्रथा है? छात्रों से क्या शुल्क लिया जाता है? इन स्कूलों के लिए अध्यापक सामान्यतः किन वर्गों से लिये जाते हैं, और उनकी योग्यताएँ क्या होती हैं? क्या इन स्कूलों के लिये अध्यापकों को भर्ती करने की कोई व्यवस्था है या अध्यापकों को दीक्षा देने का कोई प्रबन्ध है? देशी प्रणाली के स्कूलों को राष्ट्र की शिक्षा पद्धति का अंग बनाने के लिए आपके विचार में किन उपयुक्त परिस्थितियों की आवश्यकता है? इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम ढंग क्या हो सकता है, क्या अध्यापक लोग राजकीय सहायता प्राप्त करने के लिये और उन नियमों का पालन करने के लिये जिनके अन्तर्गत वह सहायता दी जाती है, राज़ी हैं? किस सीमा तक सहायता अनुदान योजना से देशी प्रणाली के स्कूल लाभान्वित हुये हैं? क्या यह सीमा और आगे बढ़ाई जा सकती है?

उत्तर—इस प्रान्त में देशी प्रणाली के स्कूल बहुत हैं। मैं उनकी संख्या का अनुमान तो नहीं बता सकता; परन्तु उनकी संख्या सरकारी स्कूलों से अधिक है। इन स्कूलों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—(१) चटसाल—जो पहाड़े, ज़बानी हिसाब, गणित के चार नियम, तथा नागरी, कैथी या महाजनी-लिपि की शिक्षा देते हैं। (२) संस्कृत पाठशालाएँ—जो संस्कृत द्वारा विभिन्न विषयों की शिक्षा देते हैं, जैसे गणित, ज्योतिष, खगोल विद्या, तर्कशास्त्र, दर्शन शास्त्र, साहित्य, व्याकरण और न्याय शास्त्र; इन सब विषयों की शिक्षा के लिये अलग अलग स्कूल हैं, (३) धार्मिक स्कूल—जो वेद तथा वेदों के विभिन्न भाष्यों (मीमांसा, वेदान्त आदि) की शिक्षा देते हैं, (४) व्यवहार गणित स्कूल—जिनका संचालन मुनीम लोग करते हैं। (उक्त २ व ४ वर्ग के स्कूलों में केवल हिन्दू ही भर्ती होने के लिये आते हैं; वर्ग १ के स्कूलों में भी मुसलमान बहुत कम आते हैं (५) मकतब अर्थात् वे स्कूल जो फारसी साहित्य की शिक्षा देते हैं—हिन्दू तथा मुसलमान दोनों इस वर्ग के स्कूलों का संचालन करते हैं, परन्तु सामान्यतः मौलवियों को अध्यापक नियुक्त किया जाता है। ये मकतब पुरानी परिपाटी के अनुसार फारसी पढ़ाते हैं। आरम्भ में कुछ पुस्तकें उनका अर्थ ज्ञान कराये बिना, पढ़ायी जाती हैं। विद्यार्थियों से कहा जाता है कि वे करीमा, मामूकी माँ आदि ग्रन्थों के छन्द रट डालें; इस विधि का प्रयोग सही उच्चारण की आदत डालने के अभिप्राय से किया जाता है। इस प्रकार जब विद्यार्थी को तीन-चार पुस्तकों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, तब उससे उच्च कोटि की पुस्तकों के उद्धरणों का अनुवाद कराया जाता है, परन्तु पाठ्य सामग्री समझने की क्षमता उसे चार पाँच वर्ष की पढ़ाई के बाद प्राप्त होती है। इन स्कूलों में मुसलमान और हिन्दू दोनों ही भर्ती होते

हैं ; परन्तु ज्यों-ज्यों अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का प्रसार बढ़ता जा रहा है; त्यों त्यों मकतबों की जनप्रियता कम होती जा रही है। जिन व्यक्तियों ने सरकारी स्कूलों और कालिजों में शिक्षा पायी है, वे अपने बच्चों का शैक्षिक पोषण मकतब पद्धति के अनुसार करना नहीं चाहते, क्योंकि उसके द्वारा फारसी ज्ञान प्राप्त करने में बहुत समय लग जाता है। एक रिवाज यह भी है कि संपन्न व्यक्ति साधारण से वेतन पर (दो रुपये से दस रुपये माहवार तक) एक मौलवी को नौकर रख लेता है। ऐसे निजी मकतब में पड़ोसी के बच्चे भी पढ़ने के लिये आने लगते हैं। वे अपने परिवार की आर्थिक दशा के अनुसार मौलवी को शुल्क देते हैं, जिसकी मात्रा दो आने से दो रुपये तक होती है। (६) अरबी स्कूल—जो अरबी साहित्य, व्याकरण और तर्क शास्त्र की शिक्षा देते हैं ; कहीं कहीं दर्शन शास्त्र, औषधि शास्त्र, ईश्वरीय ज्ञान शास्त्र जैसे विषय भी पढ़ाये जाते हैं। ऐसे स्कूलों का संचालन विद्वान मौलवियों द्वारा होता है। इनमें वे मुसलमान लड़के भर्ती होते हैं, जो मकतब में फारसी का अध्ययन समाप्त कर चुके हैं। इनमें शिक्षा निःशुल्क दी जाती है—शुल्क शायद ही कभी लिया जाता होगा। अध्यापकों का जीवन-यापन अन्य साधनों से होता है। इन स्कूलों का अभिप्राय इसलाम को समृद्ध बनाना है। (७) कुरान स्कूल—जब कोई संपन्न मुसलमान मसजिद बनवाता है तो वह कुरान का पाठ करने के लिये तथा प्रार्थना-वाचन के लिये एक मुल्ला की नियुक्ति कर देता है। यह एक पवित्र कर्त्तव्य समझा जाता है। कुरान की आयतें यूंही बिना अनुवाद किये और समझने-समझाने की चेष्टा किये बिना पढ़ी जाती हैं। किसी किसी लड़के को संपूर्ण कुरान रटवा दी जाती है, और उसे हाफ़िज़ की उपाधि दे दी जाती है। जब लड़का कुरान समाप्त कर लेता है तो उसके माता-पिता मुल्ला को धन और वस्त्र की भेंट देते हैं।

इन स्कूलों में (जिनका विवरण ऊपर दिया गया है) किसी अच्छे अनुशासन का प्रचलन नहीं है। निस्सन्देह, मकतबों में जहाँ अध्यापक सवैतनिक हैं, शिक्षा के घन्टे निश्चित हैं, और अध्यापक तथा छात्र समय की पाबन्दी बरतते हैं। अन्य वर्गों के स्कूलों में अध्यापक कुछ घंटे अध्यापन के लिये देते हैं। देशी प्रणाली के स्कूलों की सभी कक्षाओं में प्रत्येक लड़का अपनी अलग पुस्तक पढ़ता है ; कोई निश्चित पाठ्य-क्रम नहीं है, पुस्तकें निश्चित नहीं की जातीं, वे लड़के भी जिनकी पुस्तकें समान हैं एक ही दिन में अलग अलग पाठ पढ़ते हैं। अध्यापक यह पसंद नहीं करता कि समानता के विचार से एक तीक्ष्ण बुद्धि वाले लड़के की प्रगति एक आलसी लड़के के कारण रोक दी जाय। प्रत्येक लड़के को उसका दैनिक पाठ पढ़ाने

के लिए अध्यापक अलग अलग समय देता है। सामान्यतः उन्नतिशील लड़के मन्द लड़कों की सहायता करते हैं। इन स्कूलों में सरकारी स्कूलों जैसा अनुशासन नहीं है। चटसाल और मकतबों के अतिरिक्त, इन सभी स्कूलों में शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। इस रिवाज के पीछे विश्वास यह है कि विद्यादान का पुरस्कार परलोक में मिलेगा। अध्यापकों के पास जीविका के अन्य साधन हैं, अथवा वे अपना निर्वाह दान से करते हैं। उदाहरणार्थ ज्योतिष के अध्यापक को ले लिया जाय; वह अध्यापन के अतिरिक्त, जन्मपत्रियाँ तथा पंचांग बनाता है, और लोगों को धार्मिक रीति-रिवाजों के परिपालन में सहायता देता है। इन कार्यों से उसे जीविका के लिए धन-प्राप्ति हो जाती है। गाँव का पंडित खेती करता है और विद्यार्थियों को पढ़ाता भी है। उसके छात्र बदले में, धर्म-विधि के आदेशानुसार, उसकी छोटी से छोटी सेवा करते हैं। गुरू का आदर माता-पिता से भी अधिक किया जाता है। उसकी आज्ञा का पालन न करने का परिणाम यह होगा कि अपराधी को परलोक में नर्काग्नि की यातना भोगनी पड़ेगी।

वर्ग (१) में उल्लिखित स्कूलों (चटसालों) में बहुत थोड़ा-सा शुल्क लिया जाता है जिसकी वसूली साप्ताहिक या अर्धमासिक होती है। शुल्क जिस का भुगतान धन या जिन्स के रूप में होता है एक आना प्रति मास से अधिक नहीं होता—शायद ही कहीं अधिक होता हो। शिक्षा-समाप्ति पर या विद्यार्थी के विवाहोत्सव पर तथा कुछ अन्य उत्सवों पर भी, गुरू को धन तथा वस्त्र की भेंट दी जाती है। सांसारिक जीवन में प्रवेश के बाद भी विद्यार्थी गुरू का पूर्ववत आदर-सत्कार करता रहता है। चटसालों के अध्यापक सामान्यतः अति सीमित योग्यता के कायस्थ होते हैं। उनका ज्ञान बस उतना ही होता है जितना वे बच्चों को प्रदान करते हैं। संस्कृत पाठशालाओं के अध्यापक मान्य ख्याति के विद्वान् होते हैं। मकतबों के मौलवी सामान्यतः फारसी के अच्छे ज्ञाता होते हैं। अरबी स्कूलों के शिक्षक भी ख्याति-प्राप्त विद्वान होते हैं। कुरान के स्कूलों के शिक्षक साधारणतया हाफ़िज़ होते हैं। व्यवहार गणित स्कूलों के अध्यापक देशी बैंकों के लेखपाल होते हैं।

स्कूलों के लिए उपयुक्त अध्यापकों की भर्ती करने की व्यवस्था कभी सोची ही नहीं गयी। यह पेशा पैतृक संपत्ति की भाँति पिता से पुत्र को मिल जाता है—पिता अध्यापक है, तो पुत्र भी अध्यापक बनेगा।

यह बात स्मरणीय है कि देशी प्रणाली के स्कूलों की बहुसंख्या नगरों में है; ग्रामों में बहुत कम है।

मेरे विचार में इन स्कूलों को राष्ट्र की शिक्षा का अंग नहीं बनाया जा सकता।

संभव है कि अध्यापकगण राजकीय धन-सहायता के लिए राजी हो जायं, परन्तु मुझे यह भय है कि ये लोग नियमों का पालन कभी नहीं करेंगे, यदि करेंगे भी तो शायद ही कभी।

इन स्कूलों को राजकीय धन-सहायता नहीं दी जानी ; मेरा मत है कि इन्हें सरकारी अनुदान देना जन-धन का अपव्यय होगा और सरकारी हस्तक्षेप से जनता को शायद ही कुछ लाभ हो सकेगा।

सरकार के जन-शिक्षा निर्देशक के एक पत्र (सं० १२९५ तिथि १३ अगस्त १८७१ ई०) के कुछ अंश मैं नीचे उद्धरित कर रहा हूँ—

"माननीय लेफ्टीनेंट गवर्नर यह जानते हैं कि मुसलमान बच्चों के स्कूलों में फ़ारसी और अरबी की शिक्षा प्रायः सफलतापूर्वक दी जाती है। इन स्कूलों में जो छात्र कुछ वर्ष ठहर जाते हैं उन्हें भली-भाँति लिखना-पढ़ना आ जाता है, वे समझदारी के साथ ठीक-ठीक भले ही न लिख पढ़ पायें। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी फारसी की जो पुस्तकें पढ़ते हैं उनमें शैली के सौंदर्य की दृष्टि से विशेषता अवश्य होती हैं, परन्तु वे नैतिकता के मापदंड से नवयुवकों के लिए कम उपयुक्त होती हैं। इनमें सामान्यतः सुन्दर परन्तु आपत्तिजनक चीजें, जो विशेषरूप से प्रिय मानी जाती हैं, यसुफ-ओ-ज़लेखा का कामुक काव्य और बहार-ए-दानिश का अश्लील साहित्य है। कुछ लड़के कुरान का अध्ययन करते हैं, यद्यपि उनका इस पवित्र पुस्तक की भाषा का ज्ञान अधूरा होता है। इन स्कूलों में मानसिक विकास का प्रशिक्षण बिल्कुल नहीं होता; वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे शिक्षा की संज्ञा दी जा सके। नियमितता, व्यवस्था विधि आदि गुणों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। बच्चे अपनी सुविधा के अनुसार आते-जाते रहते हैं। बस उनकी आंखों को फारसी अक्षरों की पहचान हो जाती है, और उनका हाथ अक्षर बनाना जान जाता है। इसके बाद शब्दों को कंठाग्र कर लिया जाता है। और यह ज्ञान लगभग संपूर्ण शिक्षा समझी जाती है; इसे अध्यापक प्रदान करता है और विद्यार्थी ग्रहण करता है। सरकारी अधिकारियों के निरीक्षणार्थ आगमन को ईर्ष्या और शंका की दृष्टि से देखा जाता है। यदि वे कोई परामर्श देते हैं तो उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है। जब तक छात्रों के माता-पिता जो अध्यापकों को पैसा देते हैं, इस वस्तुस्थिति से सन्तुष्ट हैं—वे सन्तुष्ट प्रतीत होते हैं—तब तक इन स्कूलों में लेशमात्र सुधार की आशा नहीं है। समय आने पर सुधार तो होगा, परन्तु जन-साधारण की समझदारी में वृद्धि होने से ही यह संभव हो सकेगा।"

प्र०—५ आपके अनुभव के आधार पर, घरेलू शिक्षा के विस्तार और महत्व के विषय में आपका क्या मत है? घर पर पढ़ा हुआ एक लड़का किस हद तक, सरकारी नौकरियों की प्रतियोगिता-परीक्षाओं में उन लड़कों का मुकाबला कर सकता है जिन्होंने स्कूल में शिक्षा प्राप्त की है?

उ०—भारत में जो शिक्षा घरों में दी जाती है वह, मान्यता और उपयोगिता की दृष्टि से, मेरी राय में बहुत तुच्छ है। प्रथम तो ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं जो अपने बच्चों को पूर्णतया घर पर पढ़ाते हैं, और दूसरे जो शिक्षा दी जाती है वह कुछ संकुचित ढंग की होती है; वह यूरोपीय सिद्धान्तों से भिन्न होती है। कोई-कोई राजा, या महाजन अपने लड़के के लिए शिक्षक रख लेता है; परन्तु यह प्रयत्न विफल-सा हो जाता है, क्योंकि घर की शिक्षा बहुधा एक या दो भाषाओं के साहित्य तक सीमित रह जाती है। कायस्थ और मुसलमान, जिन्हें अपने बच्चों को पुराने मुसलमानी ढंग से शिक्षित करने का चाव है, मौलवी रख लेते हैं। इन बच्चों की शिक्षा फारसी साहित्य तक सीमित रहती है, जिसे वे अधिकतर बिना समझे रट डालते हैं। कभी कभी पुस्तकें भी ऐसी आपत्ति-जनक होती हैं कि उनसे विद्यार्थियों के आचरण को हानि पहुँच सकती है। मध्यम तथा संपन्न वर्ग के लोग अपने बच्चों को प्राथमिक शिक्षा घर पर दे देते हैं जिससे कि बच्चे सार्वजनिक स्कूल में प्रवेश पा जायं।

अपनी जानकारी और अनुभव के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि घर पर पढ़ा हुआ लड़का उन लड़कों का मुकाबला नहीं कर सकता जिन्होंने सार्वजनिक स्कूल में शिक्षा पायी है। कलकत्ता विश्वविद्यालय की परीक्षाओं से मेरे कथन की सत्यता सिद्ध हो जायगी। मेरा ख्याल है कि इन परीक्षाओं में घर पर पढ़े हुए परीक्षार्थियों की संख्या अनुपाततः बहुत कम होती है। इस मामले में वे शिक्षा संस्थाएँ, जो पूर्णतया सरकारी प्रबन्ध में हैं, सब से आगे रहती हैं। सरकारी सहायता-प्राप्त स्कूलों का (बहुत पीछे) दूसरा स्थान है; इसके बाद नम्बर उनका आता है, जिन्हें कोई सहायता नहीं मिलती। घर पर पढ़े हुए विद्यार्थियों का अनुपात तो शिक्षार्थियों की पूर्ण संख्या का अति सूक्ष्म अंश होता है।

प्रश्न—६. ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारंभिक शिक्षा का प्रसार करने के लिये सरकार किस हद तक सहायता-प्राप्त या सहायता रहित निजी जन प्रयत्न पर निर्भर रह सकती है? जो निजी संस्थाएँ शिक्षा की उन्नति में लगी हैं, उनके विषय में क्या आप कुछ बता सकते हैं?

उत्तर—अभी वह समय नहीं आया है, जब ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा

के प्रसार के लिये सरकार निजी प्रयत्नों पर निर्भर रह सके। यदि अप्रत्यक्ष रूप में भी सरकार शिक्षा क्षेत्र से हट जायगी तो शिक्षा-कार्य नष्ट हो जायगा। चिर-काल से इस देश के निवासी, हिन्दू राजाओं या मुसलमान बादशाहों के निरंकुश शासन के अधीन रहे हैं, इसलिये उनमें निर्भरता तथा दासता की आदत पड़ गयी है। यह आदत उनके स्वभाव में समा गयी है, उनके स्वभाव को स्वाधीनता के मुक्त विचारों से प्रेरित करने में अंग्रेज़ी सरकार के दयालु शासन को बहुत दीर्घ समय लगेगा। भारत में जहाँ अभी सभ्यता का प्रभात ही है, ऐसा क़दम अभी असामयिक होगा। हमें यह न भूल जाना चाहिये कि इंगलैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में जो सभ्यता से सम्बन्धित सभी बातों में हमसे बहुत आगे हैं, प्राथ-मिक शिक्षा अनिवार्य है। यदि हम शिक्षा विभाग के परिलेखों पर दृष्टि डालें तो हम देख सकेंगे कि सीधे सरकारी प्रयत्न द्वारा इस देश में शिक्षा ने कितनी प्रगति की है। यद्यपि इस देश के लोग प्राथमिक शिक्षा के लिये स्थानीय टैक्स (कर) देते हैं परन्तु उन्हें इस बात की कोई खास परवाह नहीं है कि उनके गाँव में कोई स्कूल खोला जा रहा है या बन्द किया जा रहा है। वे शिक्षा कर का भुगतान यह समझ कर करते हैं कि यह सरकारी कर है। उनमें यह विचार पैदा नहीं होता कि इसके साथ उनका हित भी संबद्ध है। सीधे सरकारी हस्तक्षेप से ही यह देश समृद्धि की ओर अग्रसर हो सकता है।

जन समूह को समग्र प्राथमिक शिक्षा देने का जो सरकार का ध्येय है उसे पूरा करने में सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थाएँ विफल रही हैं, और भविष्य में भी विफल रहेंगी। हम दिन प्रति दिन देखते हैं कि सहायता प्राप्त स्कूल, चाहे वे भारतीय लोगों के प्रबन्ध में हों, या यूरोपीय धर्म-प्रचारकों के, उसी स्तर के सरकारी स्कूलों से मुकाबला नहीं कर सकते।

मुझे ऐसी निजी संस्थाओं की जानकारी नहीं है जो प्रारंभिक शिक्षा की वृद्धि करने में तत्पर हों। जो कोई हैं भी वे ईसाई धर्म प्रचारकों की हैं।

प्रश्न—७. जो धन राशियाँ ग्रामीण क्षेत्रों की शिक्षा के लिये दी जाती हैं, आपकी राय में उनका सदुपयोग किस सीमा तक जिला समितियों तथा स्थानीय निकायों द्वारा किया जा सकता है।

उत्तर—सन् १८७२ से स्कूलों का प्रबन्ध स्थानीय निकायों के हाथ में है, और उनके अधिकार धीरे धीरे बढ़ाये गये हैं। अब शिक्षा पर उनका पूरा नियंत्रण है, और सम्पूर्ण निरीक्षण अमला भी उनके अधीन कर दिया गया है। मैं समझता हूँ कि यह एक अदूरदर्शी और असामयिक क़दम है। शिक्षा बोर्ड के सदस्य ऐसे

लोग हैं, जिन्हें शिक्षा सम्बन्धी मामलों का कोई अनुभव नहीं है या बहुत कम है, और जिनके पास अपने देशवासियों की शिक्षा पर ध्यान देने के लिये समय ही नहीं है। यदि वे समय देने का विचार करें, तब भी उनका परिश्रम शायद व्यर्थ जायगा क्योंकि उनके निर्देशन का वही फल होगा जो एक अशिक्षित डाक्टर के हाथ में रोगी को दे देने से होता है। ऐसा डाक्टर, अपना समय देने और परिश्रम करने के बावजूद तथा रोगी को बचाने की इच्छा के बावजूद गलत औपरेशन द्वारा उसकी जान ले सकता है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि शिक्षा बोर्ड के सरकारी अधिकारी या सभी असरकारी सदस्य अयोग्य हैं, किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि अधिकतर सदस्य शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष के हाथ की कठपुतली के समान हैं। मैजिस्ट्रेटों को या उनके स्तर के अन्य अधिकारियों को शिक्षा बोर्ड का अध्यक्ष बनाया जाता है। ये लोग अन्य कामों के भार से इतने दबे रहते हैं कि इन्हें शिक्षा सम्बन्धी काम के लिये बहुत कठिनाई से कभी कुछ समय मिल पाता है। कुछ योग्य जिलाधीश ऐसे जरूर हैं जिन्हें शिक्षा कार्य में हार्दिक अभिरुचि है। मैं उनके नाम भी बता सकता हूँ परन्तु उनके प्रयत्नों का ठोस प्रभाव उन्हीं जिलों तक सीमित रहता है जिनमें वे नियुक्त हैं। मैं तो केवल यह बात स्वीकार कर सकता हूँ कि अनुदान की धन राशियों के व्यय की देखरेख का काम स्थानीय निकायों को सौंप दिया जाय, इसके अतिरिक्त शिक्षा विभाग उनसे कोई और सहायता भी मांग सकता है। परन्तु स्कूलों का प्रबन्ध तो किसी हालत में उनके सुपुर्द नहीं होना चाहिए, और न अध्यापकों की नियुक्ति या दण्ड से पाठ्य पुस्तकों के चयन से तथा स्कूलों के निरीक्षण से उनका कोई सम्बन्ध होना चाहिये। ये सब कार्य और दायित्व शिक्षा विभाग के हाथ में रहना चाहिये। शायद यह कहना असंगत न होगा कि सदस्यता के लिये व्यक्तियों का चयन करने में सरकार शैक्षिक योग्यता तथा शिक्षा सम्बन्धी अनुभव पर ध्यान नहीं देती। व्यक्तिगत उदाहरण देना मैं पसन्द नहीं करूँगा।

प्रश्न—८. आपकी राय में किन वर्गों के स्कूल म्यूनिसिपल समितियों के प्रबन्ध में दे दिये जायं? यदि यह मान लिया जाय कि नगरों में प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने का भार म्यूनिसिपल कोष पर डाला जायगा तो आवश्यकता यह होगी कि कोई ऐसा बंधक रखा जाय जिसके भय से म्यूनिसिपल समितियाँ पर्याप्त धन राशियाँ लगातार व्यय करती रहें। उनकी अकर्मण्यता की हालत में आप किस प्रकार के बन्धक का सुझाव देते हैं?

उत्तर—कुछ वर्ष हुए निम्न वर्गों के बच्चों के लिये बड़े क़स्बों में स्कूल स्थापित

किये गये थे। ये निःशुल्क, निकम्मे स्कूल तभी से म्यूनिसिपल समितियों के प्रबन्ध में हैं, और यदि सरकार चाहे, तो वह यह व्यवस्था जारी रख सकती है। परन्तु अन्य स्कूलों का प्रबन्ध उनके हाथ में देना अनुचित होगा।

प्राथमिक शिक्षा का भार उठाने के लिये म्यूनिसिपल समितियों को बाध्य कैसे किया जा सकता है। यह सुझाव मुझे अव्यावहारिक लगता है।

प्रश्न—९. प्रारम्भिक स्कूलों के लिये अध्यापकों की भर्ती करने का जो ढंग आजकल प्रचलित है उसके विषय में आप कोई सुझाव देना चाहते हैं? इस समय ग्रामीण अध्यापकों की सामाजिक स्थिति क्या है? वेतन-वृद्धि के अतिरिक्त क्या आप कोई अन्य सुझाव उनकी स्थिति को सुधारने के लिये दे सकते हैं।

उत्तर—मेरे विचार में भर्ती का प्रचलित ढंग संतोषप्रद है। इस प्रसंग में निम्न बातें विचारणीय हैं:—

(१) अध्यापक लोग केवल एक वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। अन्तिम प्रमाण पत्र परीक्षा[1] सामान्यतः अप्रैल के आरम्भ में होती है। उसके पश्चात स्कूल डेढ़ माह के लिये बन्द हो जाता है, और फिर जुलाई में खुलता है। तब नयी भर्ती शुरू होती है। नयी भर्तियों में तथा कक्षाएँ बनाने में जुलाई का लगभग पूरा महीना लग जाता है। शिक्षा काल में, जो नौ माह से कुछ अधिक होता है, दशहरा तथा बड़ा दिन जैसे त्योहारों की लम्बी छुटियां पड़ जाती हैं। मेरी राय में यह समय बहुत कम है।

(२) छात्र अध्यापकों को शिक्षण के लिये भर्ती करते समय सरकार उनसे यह शर्त करवा लेती है कि उन्हें कम से कम तीन वर्ष तक अध्यापक पद पर कायम रहना पड़ेगा। मेरे विचार में यह समय बढ़ा कर पांच या छः वर्ष का कर दिया जाय।

(३) कभी कभी यह हुआ है कि प्रमाण पत्र प्राप्त व्यक्ति, प्रशिक्षण (नार्मल) स्कूल छोड़ने के बाद शर्त भंग करके अन्य पेशों में चले गये, और शिक्षा विभाग के अधिकारियों ने मुकदमेबाजी की परेशानी से बचने के कारण कोई कार्रवाई नहीं की। मेरी राय में इस नियम का पालन कड़ाई के साथ होना चाहिये।

अध्यापक की सामाजिक हैसियत अधिकतर उसके व्यक्तिगत चरित्र तथा उसकी जाति पर निर्भर होती है। सामान्यतः उन अध्यापकों का, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, या कायस्थ हैं, जनता में अधिक मान होता है। मेरे विचार में उनकी हैसियत अब

---

१. Final Certificate Examination

की अपेक्षाकृत उच्चतर होनी चाहिये। रिवाज यह पड़ गया है कि अशिक्षित जनता पटवारियों, मुख्तारों आदि का अधिक आदर करती है चाहे उनके वेतनों से स्कूलों के अध्यापकों के वेतन अधिक ही क्यों न हों।

अध्यापकों का ग्रामीणों पर सदैव ही उपयोगी प्रभाव रहता है। यदि सरकार हिन्दी को इस प्रान्त की अदालती भाषा बना दे, या प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दे, या १८ जुलाई १८७७ के सरकारी परिपत्र सं० १४९४ का, जिसमें यह आज्ञा जारी की गयी थी कि दस रुपये माहवारी या इससे अधिक वेतन की सरकारी नौकरियों पर किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति नहीं की जायगी जिसने उपबन्धित परीक्षा पास नहीं की है, वास्तविक रूप से पालन करे, तो हमारे अध्यापकों की हैसियत में बहुत कुछ वृद्धि हो सकती है।

प्रश्न—१०. प्राथमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में शामिल करने के लिये आप कोई ऐसे नये विषय बता सकते हैं जिन्हें अधिकतम लोग विशेषकर कृषक वर्ग अधिक पसन्द करेंगे ? ऐसे विषयों की शिक्षा को व्यवहार-कुशल बनाने के लिये क्या किसी विशेष साधन की आवश्यकता होगी ?

उत्तर—हमारी सरकार ने दृढ़ता के साथ यह आदेश दे रखा है कि इस प्रान्त के कृषक वर्ग को पढ़ाई, लिखाई और गणित की शिक्षा दी जाय; शिक्षा-विभाग के अधिकारियों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट किया गया है। वर्ष १८७५-७६ के शिक्षा प्रतिवेदन के पृष्ठ १० पर यह कहा गया है—"हम चाहते हैं कि प्रत्येक लड़का, जो स्कूल में भर्ती है, समझ कर पढ़ना सीखे, स्वच्छ लिखना सीखे जिससे कि उसकी लिखाई सुगमता से पढ़ी जा सके, और साधारण गणित का ज्ञान प्राप्त करे। हम यह भी चाहते हैं कि ऐसी व्यवस्था की जाय कि यह न्यूनतम ज्ञान इस प्रान्त के प्रत्येक लड़के को उपलब्ध हो जाय।" प्रतिवेदन के इन वाक्यों का समर्थन करते हुये सरकार ने अपने 'प्रस्ताव में यह कहा—"सरकार की शिक्षा नीति की परिभाषा प्रतिवेदन के उक्त शब्दों से अधिक उत्तम और संक्षिप्त ढंग से करना असंभव है।"

वर्ष १८७९–८० के शिक्षा प्रतिवेदन पर सरकार ने जो प्रस्ताव पारित किया उसमें भी इस तथ्य को निम्न शब्दों में दोहराया गया:—"सरकार का सदैव यह ध्येय रहा है कि प्रत्येक अभिलाषी लड़के को पढ़ने, लिखने तथा प्रारम्भिक अंक-गणित का अच्छा, स्वस्थ ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिले, और उसे इतिहास व भूगोल की भी थोड़ी सी जानकारी करायी जाय। इस कोटि की शिक्षा देने के लिए ही ग्राम्यः (हल्का बन्दी) स्कूलों की स्थापना की गयी थी।"

परन्तु शिक्षा विभाग के अधिकारियों ने सरकारी आदेशों का पालन करने में इतना अधिक, शायद अनुपयुक्त, प्रयत्न किया कि उसके परिणामस्वरूप मिडिल हल्काबन्दी स्कूलों की एक विशाल संख्या की पदावनति हो गयी। वे अब प्राथमिक स्कूल रह गये हैं।

मेरे विचार में निम्न पाठ्य योजना ग्रामों के स्कूलों के लिए उपयुक्त होगी:—

पहाड़े सिखाने का वह ढंग जो चटसाल स्कूलों में प्रचलित है, अपनाया जाय; वह निस्सन्देह इस विषय के यूरोपीय ढंग से अधिक उत्तम है। मौखिक गणित पर अधिक ध्यान दिया जाय, इससे बुद्धि में तीव्रता आती है। गणित में ये विषय सिखाये जायं—जोड़, घटाना, गुणा, भाग, साधारण व मिश्रित भिन्न, अनुपात व समानुपात, साधारण ब्याज, दस्तूरी, लाभ हानि, साझा, प्रतिशत, और बहीखाता। लेखन—सुलेख, इमला, और सरल निबन्ध। पठन—रामायण के खण्ड, भारत में प्रचलित कृषि के ढंग पर निबन्ध, नैतिकता पर पाठ, राजस्व और भूमिकर सम्बन्धी नियम, पटवारी के काग़ज़ात के विवरण पर निबन्ध, तथा ज़िले का नक्शा।

वैकल्पिक विषय—क्षेत्रमिति, नक्शे खींचना, भूमि-सर्वेक्षण, रेखागणित, और भारत का इतिहास तथा भूगोल।

मेरे विचार में इस पाठ्यक्रम से कृषक-वर्ग की आवश्यकता पूरी हो सकती है। कुछ परिवर्तन करके यही पाठ्यक्रम नगरों के स्कूलों में चालू किया जा सकता है, उनमें साहित्य पर विशेष ध्यान देना होगा।

प्रश्न—११. जो देशी भाषा मान्यता-प्राप्त है और स्कूलों में पढ़ाई जाती है क्या वही लोगों की बोली है? यदि नहीं, तो क्या इस कमी के कारण वह कम उपयोगी और कम जनप्रिय है।

उत्तर—वास्तव में हमारी बोली क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देना कुछ कठिन है। भारत में यह कहावत प्रसिद्ध है—बल्कि यह प्रमाणित सत्य है—कि प्रत्येक योजन (आठ मील) के बाद बोली बदल जाती है। अकेले उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में कई बोलियाँ हैं। इस प्रान्त की भाषा एक गहन चीज़ है, उसके बहुत से रूप हैं, और इसलिए उसे कई उपशीर्षकों में विभाजित किया जा सकता, परन्तु इसके मुख्य रूप चार हैं:—

(१) पूर्वी, जिस रूप में वह बनारस तथा उसके पड़ोस के ज़िलों में बोली जाती है; (२) कन्नौजी, जो कानपुर तथा उसके आसपास के ज़िलों में बोली जाती है; (३) ब्रजभाषा, जो आगरा तथा उसकी सीमा के क्षेत्रों में बोली जाती है;

(४) कथ्यान या खड़ी बोली जिस रूप में वह सहारनपुर, मेरठ, तथा उनके इर्द-गिर्द के ज़िलों में बोली जाती है।

अकेले बनारस नगर में कुशल क्षेम पूछने के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग प्रचलित है—'आपका शरीर कुशल है, स्वस्थ है? मिजाज मुबारक, मिजाज मुकद्दस, मिजाज शरीफ? आपका मिजाज कैसा है? तोहार जीऊ कैसन, बतैहो कैसन बाय? कैसन हो? इत्यादि। पण्डित, मुंशी, नागरिक और ग्रामीण अपनी-अपनी बोली के अनुसार इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते हैं। जब एक बोली में और एक स्थान में इस प्रकार की महान् भिन्नता है, तो आप पूरे प्रान्त की भाषा के विषय में क्या कह सकते हैं। इस प्रान्त की बोली में जाति, जन्म-स्थान और वक्ता की शैक्षिक योग्यता के अनुसार भिन्नता है; अतः मैं इस प्रान्त की भाषा उस भाषा को मानता हूँ, जो सब लोग सार्वजनिक स्थानों में सार्वजनिक अवसरों पर बोलते हैं, जैसे राज-दरबारों में, अदालतों में, सार्वजनिक सभाओं में, या उस भाषा को, जिसमें इस प्रान्त की भाषा के उक्त वर्णित चार रूपों में से केवल दो ऐसे हैं, जिनकी ओर ध्यान आकृष्ट होता है—ब्रजभाषा और खड़ीबोली। ब्रजभाषा का प्रयोग हिन्दी की पद्य-रचना में किया जाता है, और खड़ी बोली दो विभिन्न रूपों में सारे प्रान्त में बोली जाती है। जब उसमें फारसी शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है और वह फ़ारसी शब्दों की लिपि में लिखी जाती है, तो वह उर्दू कहलाती है, जब वह बाह्यमिश्रण से अछूती होती है और नागरी लिपि में लिखी जाती है, तब वह हिन्दी कहलाती है; अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उर्दू-हिन्दी में कोई वास्तविक भेद नहीं है।

आज कल भाषा के इन दो रूपों ने लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रक्खा है। वे रूप लम्बे-लम्बे भाषणों और वाद-विवाद के विषय बन गये हैं। मुसलमान तथा उनके संगी लोग, जैसे बनारस और इलाहाबाद के कायस्थ, प्रान्त के पश्चिमी क्षेत्र के अग्रवाल और खत्री, इस बोली को उर्दू कहते हैं। इसके कई कारण हैं। मुसलमान चिरकाल तक भारत में शासक रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि इस प्रान्त में उनकी बोली अति आदरणीय मानी जाने लगी। जो लोग यह चाहते थे कि उन्हें आधुनिक, शिष्ट और सुशील समझा जाय, वे सार्वजनिक सभाओं में या अन्य जलूसों में उर्दू बोलते थे। बहुत-से व्यक्ति अब भी उस परंपरा को निभा रहे हैं। उर्दू की श्रेष्ठता इस बात में समझी जाती है कि उसमें भारी-भारी उच्च ध्वनि के फारसी शब्दों का प्रयोग इस हद तक किया जाय कि वाक्य में हिन्दी की केवल क्रिया रह जाय।

अंग्रेजी राज में उर्दू को जो मान प्राप्त है वह इसलिये है, कि उर्दू अदालती भाषा है। मुसलमानों की जबान तीक्ष्ण और रसीली तो होती ही है, वे अति उग्र और हठी भी होते हैं, यही कारण है कि वे अन्य लोगों को दबा लेते हैं। जब तक हिन्दू लोग यह सोचते हैं कि हिन्दी की मान्यता दिलाने के लिये सरकार को लिखा जाय और सार्वजनिक सभा की जाय, तब तक मुसलमान इसके विरोध में विपरीत प्रस्ताव भेज चुकते हैं। यदि उर्दू अदालती भाषा न रहे तो मुसलमान लोग पेशकारी, सरिश्तेदारी, मोहर्रिरी, आदि की अनेक सरकारी जगहों को जिन पर इस समय उनका लगभग एकाधिकार है, सुगमता से न पा सकेंगे। नागरी लिपि को सरकारी मान्यता मिलने से, वे उस अवसर से पूर्णतया वंचित हो जायेंगे जिसके द्वारा वे लूट खसोट करते हैं—वे अनभिज्ञ व्यक्तियों को कुछ का कुछ पढ़ कर सुना देते हैं, और इस युक्ति से लिखित बात का तथ्य वदल देते हैं। फारसी लिपि को विशेष-कर शिकस्त को जिसके माध्यम से आज कल अदालती काम होता है, मुख्तारों, वकीलों तथा धूर्तों ने निश्चित आय का साधन बना लिया है। दृष्टान्त के लिये आप بسر चिन्ह बनाइए और मान लीजिए कि यह किसी गाँव का नाम है। यदि हम यह मान लें इस शब्द का पहिला अक्षर (ब) है तो हम इससे ग्यारह विभिन्न शब्दों का उच्चारण कर सकते हैं—बबर, बपर, बतर, बटर, बसर, बनर, बहर बपेर, बेर-बैर, बीर। यदि हम प्रथम अक्षर को (प) (स) (त) (ट) (न) (ह) या (य) समझें तो इस शब्द के अन्य ७७ विभिन्न उच्चारण हो सकते हैं। यदि हम उक्त ११ शब्दों में से प्रथम आठ को भिन्न स्वर चिन्हों के साथ पढ़ें तो हमे ६४ अन्य शब्द मिल जाते हैं, जैसे बुनर, हुनर, सियर आदि। और यदि हम उक्त चिन्ह (शब्द) के अंतिम अक्षर को (ज) या (र) समझें तो हमें ३०४ अन्य शब्द मिल जाते हैं। इसी प्रकार अन्तिम अक्षर को (द) मान लेने से १५२ नये शब्द बन जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीन अक्षर के एक शब्द को ६०६ विभिन्न शब्दों में उच्चारण किया जा सकता है, और यह उस हालत में है जब हमने अन्तिम अक्षर के केवल तीन रूपों को लिया है। यदि हम इस शब्द के अन्तिम अक्षर को (ब) मान लें तो एक हजार नये उच्चारण मिल सकते हैं।

ऐसे अक्षरों से हमें ईश्वर बचाये ! ! कौन सा ऐसा आश्चर्य है जो इनके माध्यम से पूरा नहीं किया जा सकता ? काले को उजला और उजले को काला बनाया जा सकता है। यदि हिन्दी को मान्यता मिल जाय तो फिर अदालतों के लगुए बंधुए लोग जिन्होंने प्रचलित लिखावट को स्थायी आय का साधन बना लिया है, अपनी जेबें न भर पावेंगे। ऐसे बड़े और कठिन फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया

जाता है जो जमींदारों, किसानों तथा व्यापारियों ने कभी सुने ही नहीं। उद्देश्य यह है कि इनका अर्थ समझाने वाले उर्दू ज्ञाता लोग खूब खाते कमाते रहें। यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाय तो सम्मन पढ़वाने के लिये दो-चार आने कौन देगा, और साधारण सी अर्जी लिखवाने के लिये कोई रुपया-आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वाले को यह अवसर कहां मिलेगा कि गवाही के सम्मन को गिरफ्तारी का वारन्ट बता दें। दफ्तरों में फारसी लिपि का प्रयोग केवल हिन्दुओं के प्रति ही अन्याय नहीं है, इससे महारानी की राम-भक्त प्रजा के अधिकतर लोगों को कष्ट और असुविधा होती है। क्योंकि उर्दू अदालती भाषा है, इसलिये कुछ थोड़े से लोग इसकी ओर अनुकूलतः झुके हुये हैं।

सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही ऐसा देश है जहां अदालती भाषा न तो शासकों की मातृ भाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस, एक उर्दू में और एक हिन्दी में लिख कर भेजें तो आपको आसानी से मालूम हो जायगा कि प्रत्येक नोटिस को समझाने वाले लोगों का क्या अनुपात है। जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं उनमें हिन्दी का प्रयोग होने से रैयत और जमीदारों को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब किताब हिन्दी में रखते हैं। हिन्दुओं का निजी पत्र व्यवहार भी हिन्दी में होता है। हिन्दुओं के परिवारों में हिन्दी बोली जाती है, उनकी स्त्रियां हिन्दी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के काग़जात हिन्दी में लिखे जाते हैं, और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिन्दी में शिक्षा देते हैं।

मुझे यह जानकर बहुत खेद हुआ कि माननीय सैयद अहमद खां बहादुर, सी० एस० आई०, ने आयोग के सामने अपनी गवाही में कहा है कि सुसभ्य वर्ग की भाषा उर्दू है, और असभ्य ग्रामीणों की हिन्दी है। यह कथन गलत तो है ही 'हिन्दुओं' के प्रति अन्याय भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ कायस्थों को छोड़ कर अन्य सब, अर्थात् क्षत्रिय, महाजन, जमींदार यहां तक कि आदरणीय ब्राह्मण भी जो हिन्दी बोलते हैं, असभ्य ग्रामीण हैं। फिर भी यह तथ्य तो मानना ही पड़ेगा कि लाला साहब (कायस्थ) सैयद साहब बहादुर के साथ उर्दू में पत्र व्यवहार भले ही करें, परन्तु जब वह अपनी पत्नी को पत्र लिखेंगे तो उन्हें हिन्दी लिपि का ही प्रयोग करना पड़ेगा।

वे दिन लद चुके हैं जब ब्राह्मण और पन्डित गायत्री भी फारसी के माध्यम द्वारा सीखते थे। यह लिपि हमें सिखाती है गुल, बुलबुल, शराब, प्याला, इश्क, माशूक,

और हमें बर्बाद करती है। कम आयु में ही प्रेम हमारे मस्तिष्क में समा जाता है। करीमा, मुमूकीमा, महमूदनामा जैसी पुस्तकें प्रारंभिक विद्यार्थियों को दी जाती हैं। करीमा एक छोटी-सी अच्छी पुस्तक है; परन्तु अन्य दोनों में तो बस प्रेम-गीत हैं। गुलिस्तां और बोस्तां में भी कहीं कहीं प्रेम कथाओं का वर्णन है। जुलेखा और बहार-ए-दानिश की अनैतिक रचनाएं शायद ही किसी पाठक के मस्तिष्क को भ्रष्ट न करती हों। एक गुप्त उद्देश्य है जो उर्दू के भक्तों को उसके निमित्त काम करने के लिए प्रेरित करता है। उर्दू नर्तकियों तथा वेश्याओं की भाषा है। जब धनी हिन्दुओं के भ्रष्ट लड़के और लंपट चरित्र के संपन्न युवक कुख्यात स्त्रियों, रखैलों, तथा दल्लालों की संगत में पड़ जाते हैं तो वे उर्दू बोलने लगते हैं, और उनका शीन, गैन और काफ दुरुस्त हो जाता है। ऐसी संगत के लिये उर्दू आवश्यक है। जो व्यक्ति अपनी जीभ को अस्वाभाविक और अशोभनीय ढंग से तोड़ मरोड़ नहीं सकता वह ऐसे समाज के लिये स्वागत योग्य और अनुकूल नहीं समझा जाता।

हमारी सरकार का तर्क-सिद्ध और न्यायोचित सिद्धान्त यह है कि वह प्रजा के बहुसंख्यक लोगों की इच्छा के अनुसार काम करती है। फिर यह क्यों नहीं देखा जाता कि हिन्दी पढ़ने वाली जनता की तुलना में उर्दू पढ़ने वालों का क्या अनुपात है। मैं अनुरोध कर के आयोग का ध्यान शिक्षा विभाग के १८७३–७४ के आलेख की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के हल्काबन्दी और प्रारंभिक स्कूलों में, उर्दू पढ़ने वाले लड़कों की संख्या ३४,१३६ थी, जब कि हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या ९२,५२८ थी। लड़कियों के प्राथमिक स्कूलों में भी, उर्दू शिक्षार्थियों की संख्या १,१७५ थी, और हिन्दी की ६,८७३। शिक्षा विभाग के सन् १८८०-८१ के आलेख से हमें पता चलता है कि कालिजों में हिन्दू विद्यार्थी ७६९ थे और मुसलमान ११२। आंग्ल-देशी भाषा मिडिल स्कूलों में हिन्दू ६,७४० थे और मुसलमान १,५२२। प्रारंभिक स्कूलों में १,७०,४७८ हिन्दू थे और ३२,६१९ मुसलमान। नार्मल स्कूलों में हिन्दू थे १७७ और मुसलमान ५०।

बनारस जिले में जिसका मैं निवासी हूँ, चालू वर्ष में देशी भाषा के स्कूल १०३ हैं। इनमें से केवल आठ में उर्दू और हिन्दी दोनों पढ़ाई जाती है, शेष में केवल हिन्दी की शिक्षा दी जाती है। जनगणना के आंकड़ों पर दृष्टि डालने से मेरे कथन की और अधिक पुष्टि हो जायगी। उनसे ज्ञात होगा कि उर्दू जाननेवालों की तुलना में हिन्दी जानने वालों की संख्या अत्यधिक है। अभी तक किसी ने इन तथ्यों की समीक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया है। यदि दिया होता तो यह विवाद बहुत पहिले हमारे पक्ष में तय हो जाता। इस यथार्थता का प्रमाण आपको डाकघर से मिल सकता

अव्यय अंशों द्वारा (जैसे अज़, अल, जेर, व) कई शब्दों को जोड़कर एक संयुक्त शब्द बनाने की प्रथा को जिससे बहुधा तात्पर्य अस्पष्ट हो जाता है, बन्द कर देना चाहिए। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि फारसी के सब शब्दों का हमारी भाषा से बहिष्कार कर दिया जाय, यह हमारी शक्ति के बाहर है। 'मतलब', 'अदालत' 'हजार', जहाज, 'वजीर', 'बादशाह', 'जमा', 'खर्च', 'नेकनियत', 'साहब', जैसे शब्दों को कौन हटा सकता है। पृथ्वीराज के सुविख्यात गायक कवि चन्द तक ने ऐसे शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में किया है:—"औलादे तास तनय के, मेटे साद निशान के, घन घड़ीक किया सुपंज बरन।"

बाद के कवि सूरदास ने भी बहुत से फारसी शब्दों का प्रयोग किया है—

"हौं गुलाम प्रभु स्वामी,
"जैसे उड़े जहाज को पंछी
"माधो इती अरज[1] सुनि लीजै।"

संस्कृत के लेखकों ने भी कभी कभी फारसी शब्दों का प्रयोग किया है। लोलिंब-राज अपनी चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तक में लिखते हैं—"रचयति चरकदिना विकश्य विद्या वतांसा: कविकुल सुल्तानुल्ला: लोलिम्बराज:"। विख्यात पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—"आगरामागता: शाह जलालुद्दीन"। हिन्दी-रचना से सम्पूर्ण फारसी शब्दों के निकालने का आग्रह करना भूल है। हम निम्न प्रकार की हिन्दी भी नहीं चाहते—"नभोमन्डल घनघटाच्छन्न होने लगा। विविध वाट बाहुल्य से इतस्तत: कुज्झटिका निपात द्वारा रसातल तमोमय हो गया"। और न निम्न शैली की उर्दू चाहते हैं—"चूंकि दावा-ए-मुद्दई बिल्कुल बईद अज़ अक्ल व गुज़िश्ता-अज़-हद्दे समआत व खिलाफ़ अज़ कानून-ए-मुरव्विजा-ए मुल्क-ए-महरूसा-ए-सरकार है।" हम विशुद्ध सरल भाषा चाहते हैं जिसे जनता समझती है और जो बहुसंख्य लोगों की लिपि में लिखी जाती है। विज्ञान की पुस्तकों में अवश्य हमें प्राविधिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है क्योंकि उनके लिए हमारी भाषा में समानार्थक शब्द नहीं है। परन्तु हम चाहते हैं कि बच्चों की स्कूली पुस्तकों के लिए अदालती कागजों में, समाचार-पत्रों में और सार्वजनिक भाषणों में सरल और सामान्य वार्ता-लाप की भाषा का प्रयोग हो; उसे ही हम सच्चे और सही अर्थ में अपनी मातृभाषा कह सकते हैं।

---

१. अर्ज

प्रश्न—१३. प्रारम्भिक स्कूलों में शुल्क वसूल करने की प्रथा के विषय में क्या आप कोई सुझाव देना चाहते हैं ?

उत्तर—स्मरणातीत समय से भारत के लोगों में शिक्षा के लिए शुल्क देने की आदत नहीं रही है। अब भी देशी संस्कृत स्कूलों में, चाहे वे प्राथमिक हों, मध्यम हों या उच्च हों, शिक्षा बिल्कुल निःशुल्क दी जाती है। शिक्षा के बदले में किसी प्रकार का शुल्क वसूल करना धर्म विरुद्ध है—धर्म ने गुरुओं पर यह कड़ा निषेध लगा दिया है। मौलवी लोग भी जो अरबी स्कूल चलाते हैं, कोई शुल्क वसूल नहीं करते।

हमारे दार्शनिक और ऋषियों ने वृहत् ज्ञान प्राप्त करने के लिए कभी कोई शुल्क नहीं दिया। कृषक वर्ग से प्रारम्भिक शिक्षा के लिए एक कर लिया जाता है; फिर उनसे शुल्क क्यों वसूल किया जाय। इस वसूली में मुझे कोई औचित्य नहीं दिखलाई देता। ऐसे स्कूलों में बच्चों से थोड़ा सा शुल्क वसूल करना भी शिक्षा की प्रगति के लिए हानिकारक होगा।

कुछ दिन हुए (जब मिस्टर कैम्पसन इस प्रान्त के शिक्षा निदेशक थे) यह प्रस्तावित किया गया था कि गैरकृषक वर्ग के बच्चों से आधा आना प्रतिमास शुल्क लिया जाय। यह नियम कुछ दिन आजमाया गया परन्तु असफलता के कारण इसे परित्यक्त करना पड़ा।

प्रश्न—१६. आपकी निगाह में कोई ऐसी उच्चतर सरकारी शिक्षा संस्थाएँ हैं जो शिक्षा के कार्य को हानि पहुँचाये बिना या किन्हीं अन्य हितों को जिनको संरक्षण देना सरकार का कर्त्तव्य है हानि पहुँचाये बिना, निजी संस्थाओं से हस्तान्तरित की जा सकती हैं ?

उत्तर—भारत के लोग सदैव सम्राटवादी सरकार पद्धति के अधीन रहे हैं। अपनी मूर्ति पूजक प्रवृत्ति के कारण उनकी यह स्वाभाविक चाह होती है कि उनके पास कोई ऐसा दृश्य पदार्थ हो, जिसके चारों ओर वे इकट्ठे हो सकें और जिसकी वे आराधना कर सकें। उनके ऊपर एक राजा, शासक या स्वामी होना चाहिए, जिसकी आज्ञा का वे पालन करते हैं और जिसके अधिकार की वे कभी अवहेलना नहीं करते। उन्हें उनकी मनमानी पर छोड़ दीजिए और वे आपे से बाहर हो जायेंगे। हमारी भाषा में 'पब्लिक' जैसा कोई शब्द नहीं है, इसका अनुवाद हम करते हैं "सरकार" जिसका मतलब हुआ 'कार्य का सिर" '(कार्य का प्रधान) हमारी भाषा में 'नैशनैलिटी' या 'पैट्रियोटिज्म' के लिए समानार्थक शब्द नहीं है। हमसे यह आशा रखना भूल होगी कि हम अपने बच्चों को उच्च शिक्षा तो दूर रही, प्राथमिक

शिक्षा का भी प्रबन्ध कर पायेंगे। कम से कम मेरा तो यह विचार है कि भारत ने सभ्यता में अभी बहुत कम उन्नति की है, और अभी उसमें यह क्षमता नहीं आयी है कि वह अपने बच्चों की शिक्षा का दायित्व-भार उठा सके। विश्वविद्यालयों की तथा विभागीय परीक्षाओं के नतीजों से हमें दिन प्रतिदिन यह पता चलता है कि सरकारी स्कूलों के लड़के अन्य स्कूलों के लड़कों से आगे रहते हैं। निजी स्कूलों में पढ़नेवाले लड़कों की संख्या तुलनात्मक बहुत कम है। सरकारी स्कूलों के मुकाबले इन स्कूलों में, चाहे वे भारतीय लोगों के हों या ईसाई धर्म-प्रचारकों के, शिक्षा भी घटिया दर्जे की होती है। इस देश के विशेषकर इस प्रान्त के लोगों को शिक्षा प्रसार का कार्य भार सौंप देना उतावलापन होगा, जिसके परिणाम अशुभ होंगे। यह मेरा पक्का विश्वास है कि ऐसे क़दम से शिक्षा कार्य को बहुत हानि पहुँचेगी। कुछ समय बाद, अंग्रेजी सरकार के शुभ शासन और उसकी प्रौढ़ शिक्षा-पद्धति से भारत के बच्चे सभ्यता, स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन के साये में ढल जायेंगे। इस समय वे अति अल्पायु के बच्चे हैं, और उन्हें अपने पालन-पोषण के लिए अपने पैत्रिक संरक्षण अर्थात् अंग्रेजी सरकार पर निर्भर रहना पड़ेगा। भारत के कुछ लोगों की यह अभिलाषा हो सकती है कि मामूली पैत्रिक संरक्षण को बहुत शीघ्र हटा दिया जाय, परन्तु जब उनकी बुद्धि में पर्याप्त परिपक्वता आयेगी तब उन्हें अपनी नादानी पर खेद होगा।

प्रश्न—१७. जिस प्रान्त की आपको जानकारी है, क्या उसमें कोई ऐसे योग्य पुरुष हैं जो सरकारी अनुदान की सहायता से स्कूलों और कालेजों की स्थापना में योग देने के लिए तैयार हो जायँ ?

उत्तर—कोई ऐसा पुरुष या निजी संस्थाएँ नहीं हैं जो अनुदान सहायता के सिद्धान्त पर कालेजों की स्थापना करने के लिए तैयार हो जायँ।

इस देश की मुकदमेबाजी मशहूर है। एकता जैसी चीज यहाँ नहीं है। एक ही परिवार के सदस्य अपने पारिवारिक झगड़े स्वयं तय नहीं कर सकते, और उन्हें अदालत में जाना पड़ता है। एक क्षण के लिए भी मैं यह नहीं सोच सकता कि यहाँ के लोग शासन-संचालन के लिए एक सूत्र में बंध सकते हैं।

प्रश्न—१८. यदि सरकार या स्थानीय निकाय जिनके पास जन धन के साधन हैं यह निश्चय करें कि कुछ वर्षों की अवधि के बाद वे उच्चस्तर शिक्षागृहों के दायित्व से अलग हो जायँ, तो आपकी राय में ऐसे कौन से कदम उठाए जायँ जिनके द्वारा निजी प्रयत्न को इतना बढ़ावा मिल जाय कि निजी संस्थाएँ उनके रख-रखाव और संचालन का पूर्ण भार अपने हाथ में ले सकें ?

उत्तर—आठ-नौ वर्ष से इस देश के निवासियों की, कम से कम इस प्रान्त के निवासियों की, यह दृढ़ धारणा रही है कि (१) सरकार उनकी शिक्षा के द्वार बन्द कर देना चाहती है, (२) सरकार के विचार में शिक्षा-विभाग राज्य के सब विभागों में अधिक भारस्वरूप है, (३) शिक्षा विभाग एक ऐसा विभाग है जिसमें खर्च ही खर्च है और आय बिल्कुल नहीं है, (४) भारतीय नवयुवक सरकारी नौकरियों की कामना करते हैं और जब नौकरियाँ नहीं मिलतीं तब वे उसी सरकार को कोसते हैं जिसने उन्हें शिक्षा दी है। सरकार के आदेश संख्या ३९१-ए तारीख २८ नवम्बर १८७७ से मैं कुछ उद्धरण दे रहा हूँ—

"इस प्रान्त में कुछ वर्षों से शिक्षा पर व्यय बहुत बढ़ गया है जिसके फल-स्वरूप प्रान्तीय सरकार के राजस्व पर प्रति वर्ष भारी भार पड़ रहा है। अतः जब आर्थिक कठिनाइयों के कारण सरकार के विभिन्न विभागों में कटौती करनी पड़ी, तो यह भी नितान्त आवश्यक हो गया कि शिक्षा के कुछ ऐसे प्रयोगों को समाप्त कर दिया जाय या छाँट दिया जाय जो अधिकतम खर्चीले और न्यूनतम सफल रहे हैं। यह भी आवश्यक हो गया है कि कार्यकुशलता को ध्यान में रखते हुए व्यय को आम तौर पर कम से कम कर दिया जाय। लेफ्टीनेन्ट गवर्नर इस बात से सन्तुष्ट हैं कि छटनी की अप्रिय नीति को न्यायसंगत समझदारी के साथ कार्यान्वित किया गया है। एक कालिज, जिसमें विद्यार्थी संख्या कम थी और अध्यापकों का अमला अधिक था, छटनी में आ गया; परन्तु इलाहाबाद का विशाल और समृद्ध केन्द्रीय कालिज और बनारस और आगरे की उसी कोटि की संस्थाएँ प्रान्त की आवश्यकता के लिए बहुत पर्याप्त हैं। सहायता-प्राप्त अंग्रेजी स्कूलों पर बहुत धन बर्बाद हो गया और परिणाम अति नैराश्यपूर्ण रहा। बहुत से स्कूलों के विषय में तो यह धारणा ठीक थी कि उनका अस्तित्व अनावश्यक है; उनमें छटनी हुई जिसे उचित और स्वाभाविक मानना पड़ेगा। यह बात लड़कियों के स्कूलों के विषय में भी सत्य है। लड़कियों के स्कूलों के सम्बन्ध में सरकार ने यह नीति अपनायी है कि राजकीय स्कूलों की स्थापना करने के बजाय स्थानीय निजी प्रयत्न को प्रोत्साहन और सहायता दी जाय, क्योंकि भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति में राजकीय स्कूलों की पर्याप्त मांग नहीं है।"

जनता की मनोवृत्ति के विषय में सरकार की यह धारणा धीरे धीरे परिपक्व विश्वास में परिणत हो गयी। परिणामस्वरूप विगत दस वर्षों में बहुत से स्कूल समाप्त कर दिये गये। एक दिन में, सौ से अधिक अंग्रेजी तथा देशी भाषा के स्कूलों के दर्वाजे बन्द हो गये। ये स्कूल नगरों में थे और इन्हें निजी प्रयत्न से सरकारी

सहायता तथा स्थानीय चन्दे द्वारा प्राथमिक अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए चलाया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि हजारों लड़के बात की बात में शिक्षा से वंचित हो गये। इस कदम का प्रभाव लड़कियों की शिक्षा पर भी पड़ा। २०० स्कूल बन्द होने के परिणाम स्वरूप ४०० लड़कियों की शिक्षा समाप्त हो गयी, क्योंकि और कोई वैकल्पिक साधन नहीं था। नायब निरीक्षकों (सब-डिप्टी इन्सपेक्टरों) में भी छटनी हुई, और अब दो के बजाय एक नायब निरीक्षक प्रत्येक जिले में रह गया है। सहायक निरीक्षकों (असिस्टेंट इन्सपेक्टरों) और लड़कियों के स्कूलों की निरीक्षकाओं के पद तोड़ दिये गये। निरीक्षकों के स्थान अवश्य चार से बढ़ाकर सात कर दिये गये परन्तु उनके वेतन में भारी कटौती कर दी गयी। अध्यापकों को शिक्षा देने वाले विद्यालयों की संख्या बढ़ा तो दी गयी, परन्तु उनका व्यय बहुत घटा दिया गया। बरेली कालिज बन्द कर दिया गया। बनारस कालिज के स्कूल विभाग की पदावनति कर दी गयी। आंग्ल-संस्कृत विभाग तोड़ दिया गया। छात्रवृत्तियाँ तथा पुरस्कारों की रकम में भी कमी कर दी गयी।

इस प्रकार के किसी अन्य कदम से जिसके फलस्वरूप उच्च शिक्षा को अहित होने की संभावना हो, लोगों में अत्यधिक असंतोष पैदा हो जायगा और उनका मानसिक विकास दब जायगा। हम आयोग से यह मांग करते हैं कि पहिले कम से कम ५० वर्षों तक भारत के लोगों को उच्च, बल्कि उच्चतर शिक्षा दी जाय। जब हममें अपने विषय में निर्णय करने की समझ आ जायगी, तब उक्त प्रश्न (सं० १८) पूछना सामयिक होगा। तब हममें यह सुझाव देने की क्षमता होगी कि उक्त शिक्षा संस्थाओं को निजी प्रयत्न के आधार पर चलाने के लिए किन उपायों और कार्रवाइयों पर बल दिया जाय। यदि इस प्रश्न का उत्तर हमसे आज माँगा जायगा, तो हम यही कहेंगे कि हम वही कदम उठायेंगे तो हमने बरेली कालिज के उन्मूलन के पश्चात् या औरंगजेब द्वारा विश्वनाथ का मन्दिर गिराये जाने के बाद, या महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ का मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट होने के बाद उठाये थे।

प्रश्न—२१. विशेष कर किन वर्गों के लोग अपने बच्चों की शिक्षा के लिए सरकारी या सहायता-प्राप्त स्कूलों और कालिजों की सेवा का प्रयोग करते हैं? यह शिकायत कहाँ तक ठीक है कि धनी वर्गों के लोग शिक्षा के लिए पर्याप्त पैसा नहीं देते? आपके प्रान्त में उच्च शिक्षा के लिए शुल्क दरें क्या हैं और क्या आपके विचार में ये पर्याप्त हैं?

उत्तर—कुछ अति, निम्न जातियों को छोड़कर, सभी जातियों के लोग सरकारी कालिजों और सहायताप्राप्त स्कूलों की सेवाओं का उपभोग करते हैं। मुसलमान

इन संस्थाओं का उपभोग कम करते हैं। वे अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध हैं। वे सरकारी स्कूलों में प्राप्य भाषाएँ सीखने के भी विरुद्ध हैं। उनकी धार्मिक प्रवृत्तियाँ भलीभाँति विदित हैं, इसका कारण खोजने की आवश्यकता नहीं है। मेरे ख्याल में यह बात कि धनी वर्ग के लोग शिक्षा के लिए पर्याप्त धन-सहायता नहीं देते, बिल्कुल निराधार है। यदि हम इस प्रान्त के कालिजों और स्कूलों के इतिहास पर दृष्टि-डालें, तो हमें पता चलेगा कि इस देश के धनी व्यक्तियों ने किस उदारता से शिक्षा के लिए धन सहायता दी है। कुछ व्यक्ति यह भी कह सकते हैं कि इन धनियों ने केवल आंग्ल-भारतीय अफसरों को खुश करने के अभिप्राय से सहायता दी है, परन्तु इस बात से तो यही सिद्ध होगा कि जनता में दासता की प्रवृत्ति है और यह प्रकट होगा कि बड़े काम सरकारी हस्तक्षेप द्वारा आसानी से पूरे किये जा सकते हैं।

आगरा कालिज

आगरा कालिज के संचालन के लिए पंडित गंगाधर ने सन् १८२३ में एक स्थायी दानकोष स्थापित कर दिया था जिसमें डेढ़ लाख रुपये की रोकड़ का ब्याज आता था और आगरा, अलीगढ़ तथा मथुरा जिलों के कुछ ग्रामों का लगान जमा होता था। इसके अतिरिक्त बीस हजार रुपये छात्रवृत्तियों आदि के लिए जमा किये गये थे। छात्रवृत्तियों के लिए कुछ वार्षिक धनराशियाँ ग्वालियर व भरतपुर के दरबारों से भी मिलती थीं।

बनारस कालिज

कालिज भवन का निर्माण जिसमें लगभग एक लाख तीस हजार रुपये व्यय हुये थे मुख्यतः जनता के चन्दे से हुआ था। कालिज की बाहरी दीवारों में जो आलेख शिलाएँ जड़ी हुई हैं। उनमें उन व्यक्तियों के नाम अंकित हैं, जिनके दान से कालिज के विभिन्न भाग बनाये गये हैं। संस्कृत कालिज के संचालन के लिए अधिकतम रुपया महाराजा बनारस से प्राप्त होता है।

छोटे दान-कोषों से पैंतीस हजार पांच सौ रुपये वसूल होते हैं।

म्यूर कालिज, इलाहाबाद

इस कालिज की स्थापना के लिए प्रान्त के भद्र भारतीयों तथा सरदारों ने और निकट की रियासतों ने धन जुटाया—डेढ़ लाख भवन निर्माण के लिए और बासठ हजार छात्रवृत्तियों के लिए।

स्कूलों का इतिहास भी इसी प्रकार है।

मुरादाबाद जिला स्कूल मुख्यतः बहत्तर हजार रुपये की दान रोकड़ पर निर्भर था जिससे तीन हजार छः सौ रुपये वार्षिक आय होती थी। इसके अतिरिक्त ढाई सौ रुपये कुछ दूकानों का किराया आता था और ढाई सौ रुपये की आय मिरजा तन्ना सिंह की संपत्ति से होती थी। ये दोनों संपत्तियाँ स्कूल को दान कर दी गयी थीं।

जब मिर्जापुर जिला स्कूल स्थापित किया गया था तब वह पूर्णतया चन्दे से चलाया जाता था। ४८,२६१ रुपये एकत्रित किये गये थे। इस स्कूल का प्राची विभाग पूर्णतया एक दान कोष से चलाया जाता है।

बांदा जिला स्कूल की इमारत चन्दे के धन से बनायी गयी थी जो मिस्टर मेन तथा एक ईसाई धर्म प्रचारक ने एकत्र किया था।

बदायूं स्कूल की इमारत के लिए नगर के कुछ धनी व्यक्तियों से और जिले के जमींदारों से चन्दा इकट्ठा किया गया था।

सन् १८६४ में कानपुर के लोगों ने नगर के आंग्ल-देशी भाषा स्कूल के लिए पचास रुपये मासिक चन्दा एकत्र करना आरंभ किया; बाद में यह रकम सत्तर रुपये हो गयी। सन् १८७० में नगर के भद्र पुरुषों ने तीन हजार रुपये का दानकोष स्थापित किया। अमरनाथ नामक एक सज्जन ने अपनी संपत्ति से एक कोष स्थापित किया, जिसके धन से तथा सरकारी सहायता से इमारत तैयार की गयी। यह स्कूल अमरनाथ स्कूल कहलाता है।

इटावा हाईस्कूल की स्थापना में मिस्टर ह्यूम[1] को नगर की भारतीय भद्र समाज ने उदार समर्थन प्रदान किया, कुछ काल तक मुख्याध्यापक (४५ रु० मासिक) तथा चार सहायक अध्यापकों का वेतन केवल शुल्क और चन्दे से दिया गया। स्कूल की इमारत में चौंतीस हजार रुपया लगा जिसमें दो हजार चार सौ जनता के चन्दे से आया। मेज कुर्सियाँ तथा अन्य सामान भी निजी व्यक्तियों ने दिया।[2]

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसको आयोग के सामने रखकर मैं यह पूछना चाहूँगा कि क्या इस प्रान्त के लोगों पर यह दोष लगाया जा सकता है कि उन्होंने शिक्षा के लिए पर्याप्त धन सहायता नहीं दी। मेरा तो मत यह है कि जो धन

---

१. जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना की थी।

२. भारतेन्दुजी ने इसी प्रकार का विवरण निम्न स्थानों के स्कूलों के विषय में दिया है—फर्रुखाबाद, मथुरा, शाहजहांपुर, बुलन्दशहर, एटा, बिजनौर, फतेहपुर, गोरखपुर, हमीरपुर, झाँसी, ललितपुर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर।

लोगों ने दिया है उसका व्यय गलत ढंग से हुआ है। हमें अपने लड़कों को शिक्षा देने के लिए वैभवशाली विशाल अट्टालिकाओं की जरूरत नहीं है। हमारे दार्शनिक, जो सभ्यता के उद्‌गम थे और जिनसे पश्चिम राष्ट्रों ने ललित कलाओं तथा सभ्यता का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया, महलों में शिक्षित नहीं किये गये थे; उन्होंने झोपड़ियों में तथा वृक्षों के नीचे शिक्षा पायी थी।

यदि धन अनुदान का प्रयोग केवल प्राध्यापन के लिये किया जाता, तो भारत सरकार को इस आयोग के नियुक्त करने की आवश्यकता न पड़ती और न यह कहने की ही कि उच्च शिक्षा पर बहुत भारी व्यय हो रहा है।

प्रश्न—२५. क्या आपके प्रान्त में शिक्षित जनों को पर्याप्त जीविका भर के लिए रोज़गार मिल जाता है?

उत्तर—मुझे अति अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि इस प्रश्न का उत्तर है —"नहीं"। इस मामले में सरकार ने अब तक हमारी प्रार्थनाओं को अनसुना किया है। जब शिक्षा विभाग ने बार बार शिकायत प्रेषित की तो प्रान्तीय सरकार ने यह आदेश जारी किया कि कोई भी सरकारी जगह जिसका वेतन दस रुपये या दस से अधिक है किसी ऐसे व्यक्ति को न दी जाय जिसने कोई सार्वजनिक परीक्षा पास नहीं की है। शिक्षित वर्गों ने इस नियम का हृदय से स्वागत किया; उन्होंने सोचा कि सुनहला युग पुनः आ गया है और अब केवल योग्य व्यक्तियों का सरकारी नौक-रियों पर एकाधिकार हो गया; परन्तु अफसोस कि बस निराशा और विस्मय उनके हाथ लगा, क्योंकि आंग्ल भारतीय अफसरों ने इस आदेश को रद्दी की टोकरी के हवाले कर दिया।

आंग्ल-भारतीय अफसरों में एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जिनके मनमें स्नातकों तथा उप-स्नातकों के प्रति विरोधात्मक भावनाएँ हैं और जो नियमित रूप से दायित्व पूर्ण सरकारी नौकरियों के द्वार उनके लिए बन्द कर देते हैं। वे नौकरी के लिए पुराने ढर्रे के लोगों को वरीयता देते हैं जो न तो भलीभाँति शिक्षित हैं और न जिनमें कोई उच्च नैतिक ज्ञान है। उनमें योग्यता यही है कि वे अपने उच्च अधिकारियों की गालियाँ और उग्र बर्ताव धैर्य से सह लेते हैं। आंग्ल-भारतीय अधिकारी लोग विश्व-विद्यालयों में शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों से घृणा करते हैं क्योंकि बहुधा यह होता है कि जब ऐसे व्यक्ति अधिकारियों को औचित्य की सीमा-रेखा पार करते हुए देखते हैं तो वे उनकी आलोचना करने लगते हैं। अमला भरसक कोशिश करता है कि विश्वविद्यालय के व्यक्ति उसके प्रभाव-क्षेत्र को अपवित्र न करें, अर्थात् कचहरी की सीमा के भीतर जिसे वह अपना तथा अपने संबंधियों का एकाधिकार समझता है

प्रवेश न करें। अफ़सर लोग भी उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्ति के लिए स्वीकार करते हैं जिनकी सिफारिश सरिश्तेदार तथा बड़े बाबू करते हैं। शिक्षित व्यक्तियों के अधिकारों को हठपूर्वक नज़रअन्दाज किया जाता है, उन्हें जानबूझ कर नीचे गिराया जाता है, और सब मान-पदों के द्वार उनके लिए बन्द कर दिये जाते हैं। इस प्रान्त की सरकार ने इन व्यक्तियों की सहायता करने के विषय में कुछ नहीं किया है। यही कारण है कि वे नौकरी की भीख मांगते हुए सरकारी विभागों के दरवाजे खटखटाते घूमते हैं। यदि आयोग सब-जजों, मुन्सिफों, डिप्टी कलक्टरों, नाज़िरों, पेशकारों, मुनसरिमों, सरिश्तेदारों, हेडक्लर्कों तथा नीचे के अमले की सूची देखे, तो उसे मेरे कथन की सत्यता का प्रमाण मिल जायगा।

प्रश्न—४२. लड़कियों के स्कूलों की स्थापना में शिक्षा विभाग ने क्या प्रगति की है, और उनमें जो शिक्षा दी जाती है वह किस प्रकार की है? उसके सुधार के विषय में क्या आप कोई सुझाव दे सकते हैं।

उत्तर—मुझे गंभीर खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि जनता के इस भाग की शिक्षा के विषय में अधिकारियों की प्रवृत्ति बिल्कुल हितकर नहीं रही है। यह तो सच है कि इस देश के लोग अपनी कन्याओं को सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ाना ही नहीं चाहते, परन्तु सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकार की अज्ञानता उनके मस्तिष्क से दूर करे। इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि अधिकतम स्कूलों का, जो बन्द किये गये हैं, नाममात्र अस्तित्व था, फिर भी उनमें जो कुछ थोड़ी-बहुत लड़कियाँ आती थीं, उनसे अन्य लोगों को अनुकरण करने का उत्साह और प्रेरणा मिलती। मैं पहले कह चुका हूँ कि सरकार के एक आदेश से दो सौ कन्या पाठ-शालायें बन्द हो गईं, और शेष स्कूलों का प्रबन्ध जिला समितियों को हस्तान्तरित कर दिया गया। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि समिति को यह ठीक ठीक पता तक नहीं है कि जिले के किस भाग में ये स्कूल हैं, इन स्कूलों में क्या होता है; यह तो दूर की बात है। उन्हें डिप्टी इन्स्पेक्टरों की देखरेख पर छोड़ दिया गया है, जो उनका प्रबन्ध संतोषप्रद ढंग से नहीं कर सकते। जहाँ तक मेरा मत है, उनके वहां जाने से कोई लाभ नहीं होता। इन्सपेक्टरों के पद के लिए एक यूरोपीय महिला होनी चाहिए जिसका ईसाई धर्म प्रचारक समाज से कोई सम्बन्ध न हो। मैं समझता हूँ कि सरकार ईसाई धर्म प्रचारकों को एक बड़ी रकम महिला शिक्षा प्रसार के लिए देती है। परन्तु वे लोग इस रकम का बड़ा भाग ईसाई लड़कियों की शिक्षा पर व्यय कर देते हैं क्योंकि उनका मुख्य ध्येय धर्म-शिक्षा देना है।

प्रश्न—४३. लड़के लड़कियों के सम्मिलित स्कूल हों या न हों, इसके विषय में आप कुछ कहना चाहेंगे?

उत्तर—इस देश में सम्मिलित स्कूल कायम करने की योजना मुझे पसन्द नहीं है। भारतीयों को इस बात से अविचल अरुचि है कि उनकी लड़कियों को लड़कों के साथ एक ही स्कूल में पढ़ाया जाय। इस प्रकार का ढंग उनकी औचित्य की भावना और परदे के रिवाज के विपरीत है। इसके अतिरिक्त, यूरोप के ठंडे देशों की अपेक्षा भारत की उष्ण जलवायु में लड़कियाँ युवावस्था जल्दी प्राप्त कर लेती हैं। इसलिए माताएँ इस योजना का घोर विरोध करती हैं कि लड़कों को लड़कियों के साथ, चाहे वे किसी आयु की हों, सम्मिलित किया जाय। नारी-शिक्षा के विषय में वैसे ही लोगों में उदासीनता है, यदि सम्मिलित स्कूल स्थापित किये जायेंगे तो उदासीनता और बढ़ जायगी।

प्रश्न—४६. नारी शिक्षा को अग्रसर करने के कार्य में यूरोपीय महिलाओं ने क्या भाग लिया है? इस कार्य के प्रति महिलाओं में अभिरुचि बढ़ाना किस हद तक संभव हो सकेगा?

उत्तर—नागरिक, सैनिक तथा शिक्षा विभागों की यूरोपीय महिलाओं ने नारी शिक्षा में बहुत ही कम अभिरुचि दिखलाई है। यदि वे दिलचस्पी लें तो भारत में नारी शिक्षा बढ़ सकती है और उससे अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। ईसाई धर्म प्रचारक महिलाओं ने कुछ रुचि दिखलाई है; परन्तु जनाने में इनके जाने को बहुत ही कम उपयोगी माना जाता है। उनकी स्वाभाविक वृत्ति धार्मिक सिद्धान्तों और मुक्त विचारों का प्रचार करने की ओर होती है, न कि भारतीय स्त्रियों के मस्तिष्क में शिक्षा के प्रति चाह उत्पन्न करने की ओर। इसीलिए परिणाम प्रतिकूल होता है और यह भावना पैदा हो जाती है कि इन महिलाओं का एकमात्र ध्येय धर्म परिवर्तन कराना है; अतः भारतीय नारियाँ इन्हें अपने धर्म का शत्रु समझकर इनके संपर्क से बिल्कुल अलग रहना पसन्द करती हैं।

प्रश्न—५४. क्या आपके प्रान्त में उच्च शिक्षा की मांग इतनी बढ़ गयी है कि अध्यापन का पेशा लाभकारी हो गया है? क्या अच्छी हैसियत के व्यक्तियों ने अपनी जीविका कमाने के लिए स्कूल खोल रखे हैं?

उत्तर—मुझे अफसोस है कि उच्च शिक्षा की माँग इस हद तक नहीं बढ़ी है, और यदि बढ़ भी जाय तो कठिनाई यह होगी कि भारत में शिक्षा के लिए अधिक शुल्क देने का रिवाज नहीं रहा है। अति प्राचीन काल (प्रलय के पहले) से अब तक, इस देश के लोगों ने—मुसलमानों ने भी—सब प्रकार की शिक्षा (उच्च मध्य

और निम्न कोटि की) मुफ्त पायी है। हमारे दार्शनिकों, कवियों, ग्रन्थकारों आदि ने सदैव निःशुल्क शिक्षा दी है; उन्हें बस यह आशा रहती थी कि उन्हें परलोक में पुरस्कार मिल जायगा।

एक शती बाद भी भारत में अध्यापन का पेशा लाभाकारी न हो पायेगा। यदि यह पेशा लाभकारी होता तो नौकरियाँ खोजनेवाले व्यक्ति इतनी विशाल संख्या में सरकारी अफसरों को तंग करते न घूमते।

प्रश्न—५८. आपकी राय में कालिजों तथा स्कूलों की प्रति कक्षा में अधिक से अधिक कितने विद्यार्थी होने चाहिये, जिन्हें एक अध्यापक भलीभाँति पढ़ा सकता है?

उत्तर—मेरी राय में स्कूल-कक्षा में २५ से ३० विद्यार्थियों को और कालिज-कक्षा में १० से १५ को एक अध्यापक भलीभाँति पढ़ा सकता है।

प्रश्न—६०. धार्मिक तटस्थता के सिद्धान्त को कड़ाई के साथ बरतने के लिए क्या यह जरूरी है कि सरकार कालिजों और स्कूलों के प्रबन्ध से सीधा सम्बन्ध न रखे—प्रबन्ध से अलग हो जाय?

उत्तर—सरकार के सीधे हस्तक्षेप से ही धार्मिक तटस्थता के सिद्धान्त का कड़ाई के साथ पालन होता है। सरकार के अलग हो जाने का परिणाम विपरीत होगा, हमें भय है कि उस हालत में ईसाई धर्म प्रचारक शिक्षा क्षेत्र पर छा जायेंगे।

प्रश्न—६५. आपके विचार में, उन कालिजों में जहाँ बी० ए० तक की शिक्षा दी जाती है, किस हद तक यूरोपीय प्राध्यापकों को रखना जरूरी है?

उत्तर—मेरे विचार में ऐसे कालिजों में यूरोपीय प्राध्यापकों की नियुक्ति बहुत जरूरी है। उच्च गणित, भौतिक, विज्ञान, अंग्रेजी या दर्शनशास्त्र के विषयों को पढ़ाने वाले योग्य भारतीय कठिनाई से उपलब्ध होते हैं।

प्रश्न—६६. क्या यूरोपीय प्राध्यापक, भारतीय प्रबन्ध वाले कालिजों में नियुक्त हैं या उनके नियुक्त किये जाने की संभावना है?

उत्तर—माननीय सैयद अहमद खाँ बहादुर ही एक ऐसे भारतीय हैं जिन्होंने यूरोपीय प्राध्यापक रखे हैं। मेरे विचार में, यूरोपीय प्राध्यापकों को नियुक्त करना तो अलग रहा, कोई भारतीय किसी कालिज के प्रबन्ध का दायित्व भी नहीं ले सकता। और यदि भारतीय व्यक्ति कालिजों का प्रबन्ध अपने हाथ में ले भी, तब भी मैं नहीं समझता कि कोई योग्य यूरोपीय प्राध्यापक उनके नीचे नौकरी करना कभी पसन्द करेगा जब तक उसे बहुत भारी वेतन न दिया जाय।

परिशिष्ट—२

EDUCATION COMMISSION

Report by the North-Western Provinces and Oudh Provincial Committee. (1884)

Statement by Babu Haris Chandra.

Ques. 1. Please state what opportunities you have had of forming an opinion on the subject of education in India, and in what province your experience has been gained.

Ans. 1. I have always taken an interest in education. I am a Sanskrit, Hindi, and Urdu poet, and have composed many works in verse and prose. I started a Hindi journal, the Kavivachan Sudha, which still exists. My aim has always been to better the educational status of my countrymen, to improve the vernacular language of these provinces, and to add to the stock of the vernacular literature. I have always taken pleasure in the enlightenment of my fellow-countrymen. I have established a school for elementary education in the city of Benares. I was a member of the Benares Educational Committee, and have had considerable opportunity of coming into contact with those connected with the Educational Department and other men of learning. I have given prizes to students and scholars of Government schools and colleges to encourage the advancement of learning.

I belong to the North-Western Provinces, and my experience is confined to them.

Ques. 2. Do you think that in your province the system of primary education has been placed on a sound basis, and is capable of development up to the requirements of the community? Can you suggest any improvements in the system of administration or in the course of instruction?

Ans. 2. As far as my knowledge and experience go, I am of opinion that the system of primary education has been placed on a sound footing, and is quite capable of development up to the requirements of the community with but a few slight amendments and improvements.

I consider the present system of managing schools by educational committees objectionable. The official members can hardly spare time to look after the schools which are situated far from them in the district. The majority of non-official members attend the meetings, not because they have any love or even the smallest desire on their part for the education of their country, but only because they consider it an honour to be a member of such local boards, and because they would be entitled to a seat in the presence of the Collector. I have known many members of educational committees who hardly themselves know even the vernacular of the province, and they are enrolled as members because they are classed among the gentry, and some of them are such as cannot even claim that distinction. I seldom know a non-official member of the committee visit a district school or take a bona fide interest in the cause of education, purely with a view to benefit his country. All the knowledge that the committee have is at second hand, viz., through the officers of the Education Department. If the Government itself were to entreat them, to ask them, to induce them, and even to compel them, the measure will fail to succeed. Who would like to travel to the end of his district to visit a school, to preach to the villagers the advantages of educating their children, to see whether a trifling sum, say Rs. 4, sanctioned by the committee for repairs has been actually spent, and whether the teacher is punctual to his duty. Here and there a public-spirited man may come forward to devote his time, his purse, and even his life, but that will be lost like a drop of rain in the ocean. I am of opinion that the education of the country, as has been the case since the institution of the department, must be conducted by a separate department, as other branches of the Government administration, Police,

Revenue, Justice, Post, Telegraph, &c., are; and if any Philanthrophist wishes to help the Education Department, let him be appointed Honorary Inspector or Joint Inspector of Schools, and have an actual share in the management of the department, instead of a nominal membership of the Education Board.

The educational committees, as far as I have had a knowledge of them, are practically useless. I know members who do not know what is the number of schools within their jurisdiction, or what is the difference between a tahsili and a halkabandi school.

It is true that the officers of the Education Department are not sufficiently respected by the ignorant public. It is not the fault of the department. It is owing to the quiet nature of the work which the department has to do, viz., supervision and examination of schools. In India hukumat (authority) commands respect. An education officer cannot consign a man to custody, cannot fine him, cannot squeeze his purse. They are much like Missionaries, in pursuit of a good cause, unmindful of the scorn of the ignorant. Whereas the function of the Revenue and Police Departments inspire awe in the minds of the people, affecting as they do matters in which they have a nearer interest than they have in the education of their little ones. This very reason, I believe, has led the Honourable Sayyid Ahmed Khan Bahadur to suggest in his evidence that extra Deputy Collectors be appointed to take charge of education. To remove this evil, the best remedy would be to make primary education compulsory in India as it is in England and other European countries, to make the language of the court the language used by the people, and to introduce into the court papers the character which the majority of the public can read. The character in use in primary schools of these provinces is, with slight exceptions, entirely Hindi, and the character used in the courts and offices is Persian, and therefore the primary Hindi education which a rustic lad gains at his village has no value, reward, or attraction attached to it. The son of a zamindar, after he has been for years mastering the

curriculum of a village school, on going to court finds himself out of his element, he sees that all his labour has been wasted, he finds himself as ignorant as his forefathers were, and cannot understand the hieroglyphies used in amladom. If the son of a poor man wishes to secure a livelihood by his knowledge, he must knock at the door of the Education Department. The other departments will send him away as ignorant.

Ques. 3. In your province is primary instruction sought for by the people in general, or by particular classes only ? Do any classes specially hold aloof from it; and if so, why ? Are any classes practically excluded from it; and if so, from what causes ? What is the attitude of the influential classes towards the extension of elementary knowledge to every class of society ?

Ans. 3. Primary education is generally sought for by the people, and the wish for it is not confined to particular classes only. This statement will be borne out by the returns of the Education Department, but I am sorry to learn that for the last three or four years the classification by castes has been dropped from the returns of that department. No class of people hold themselves particularly aloof from elementary instruction, with the exception of some very low and at the same time poor people, for instance domras and mehtars; or, to a certain extent, Mussalmans, who hate the system of education pursued in Government schools, and are comparatively poorer and lazier than Hindus. To no class of people is the door of elementary education practically barred. The influential class of people, especially Hindus inhabiting cities and large towns, and even villages, highly desire that all people, high and low, should receive elementary education.

There are instances of big landholders or zamindars of the Kshatriya or Brahman caste not wishing to educate the sons of their rayat of the lower orders, with a view to profit by their ignorance. But such cases are very rare.

Ques. 4. To what extent do indigenous schools exist in your province ? How far are they a relic of an ancient village system ? Can you describe the subjects and character of the

instruction given in them, and the system of discipline in vogue? What fees are taken from the scholars? From what classes are the masters of such schools generally selected, and what are their qualifications? Have any arrangements been made for training or providing masters in such schools? Under what circumstances do you consider that indigenous schools can be turned to good account as part of a system of national education, and what is the best method to adopt for this purpose? Are the masters willing to accept State aid, and to conform to the rules under which such is given? How far has the grant-in-aid system been extended to indigenous schools, and can it be further extended?

Ans. 4. Indigenous schools exist in abundance in these provinces. I cannot say what is their approximate number, but at any rate their number is proportionately larger than that of Government schools. (1) There are chatsals, which give education in the multiplication-table, mental arithmetic, the four rules of arithmetic, simple and compound, proportion, interest, simple and compound, discount, profit and loss, writing of Nagari, Kaithi, or Mahajani characters. (2) Sanksrit schools, which teach different subjects in Sanskrit, arithmetic, astronomy, astrology, logic, philosophy, rhetoric, literature grammar and law. All these subjects are not taught in one or the same school, but separate schools are kept for separate branches. (3) Theological or religious schools teaching the Vedas or their different sub-divisions, Mimansa, Vedanta &c. (4) Schools for teaching practical banking business and book-keeping. These are kept by munims, or accountants of banks kept by Natives. The schools of the classes II to IV are exclusively attended by the Hindus, and even chatsals are rarely attended by Muhammadans. (5) Maktabs or schools for teaching purely Persian literature and writing.—This class of schools is kept by both Mussalmans and Hindus, and generally maulvis are employed as teachers. They teach Persian according to the old method. In the beginning, a few books are read by rote, and the students are made to commit to memory

verses from Karima, Mumukima, &c., only with a view to make them acquire a habit of correct pronunciation. When the student has mastered three or four books in this manner, he is made to translate from advanced books, but he is hardly able to grasp the sense of what he reads until he has been four or five years in the school. The schools are attended by both Mussalmans and Hindus. But with the growth of the English system, the maktabs are gradually losing their popularity, and those who have been educated at college or other Government schools, do not wish to bring up their children after the maktab method described above, as it takes a considerable time before the student is able to read and write Persian. A well-to-do person sometimes employs a maulvi on a small pay (from Rs. 2 to 10), and the children of the neighbours attend the maktab on payment to the maulvi of a tuition fee varying from Annas 2 to Rs. 2 according to the circumstances of the parent. (6) Arabic schools which teach Arabic literature, grammar, logic, and sometimes philosophy, medicine, and theology. Such schools are kept by learned maulvis with a view to keep up their own knowledge, and are mostly attended by Mussalman boys who have finished their Persian studies at a maktab. The education given in these schools is purely gratis, and fees are seldom or never charged. The teacher gains his livelihood by other means. These schools are kept up with a view to strengthen the Muhammadan religion. (7) Kuran schools—When a well-to-do Muhammadan builds a masjid (mosque), he generally employs a mulla to recite the Kuran and read prayers there. The mulla collects a number of boys and teaches them the Kuran. This is considered a sacred duty. The Kuran is read by rote without being translated or understood. Sometimes a boy is made to commit the whole of the holy book to memory, and he then receives the title of Hafiz. When the boy finishes the Kuran, his parents make presents of money and cloth to the mulla.

There is not any great discipline in vogue in any class of the schools described above. In maktabs, of course, where

teachers are paid, schools are kept between certain regular hours, and the master and boys are punctual in attendance. In all the other classes of schools the teacher devotes certain hours to teaching. In all classes of indigenous schools no curriculum is fixed, and each boy reads his own books and has his own lesson. Even the boys reading the same book have different lessons. The teacher will not retard the progress of a sharp boy in order to push on with him an indolent one. Each student goes to the tutor for a short time to receive his lesson. Advanced students generally help those who are backward. The schools sadly lack the discipline in vogue in Government schools. With the exception of chatsals and maktabs, the instruction in all schools is given purely free, only with the hope of reward in the next world, and no fees in any shape are charged. The masters have other means of livelihood or live entirely on charity. For instance, an astrology-teacher will also teach his school, cast horoscopes, prepare almanacs, and assist people in the performance of their religious rites, by which he will maintain himself. A pandit who lives in a village will do his agriculture and also teach his pupils. The disciples in return will do their preceptor's menial service which they are enjoined to do under the strict order of the law of their religion. A guru or teacher, is more respectable than parents. Not to obey his order will subject the offender to infernal miseries in the next world. In the schools of Class I—viz. chatsals—a very small fee is charged, which is taken weekly or fortnightly. It is in kind or money. The amount seldom exceeds one anna per boy during the month. The teacher also receives some money or cloth presents at certain festivals, or when the boy is married or finishes his study. The teacher or guru is always treated with great respect, even after the boy has left the school and commenced the world. The teachers of chatsals are generally Kayasthas of very limited attainments. They seldom know much more than what they teach. The teachers of Sanskrit schools are learned scholars of acknowledged reputation. The maulvis or maktab masters are generally well qualified in Persian. The Arabic school-

teachers are generally maulvis well known for their learning. The Kuran schoolmasters are generally Hafizes, or persons who have committed the whole of the sacred text to memory. The masters of the schools wherein banking and account-keeping is taught are generally accountants of the native banks.

No arrangement has ever been even dreamt of to provide masters in such schools. This profession generally passes from father to son as by inheritance.

It must not be forgotten that the majority of the indigenous schools are in the cities, and there are comparatively few schools in villages.

I do not think such schools can be turned to any account as a part of the system of national education. The masters may be willing to accept Government aid, but I am afraid they will rarely or never conform to the rules laid down.

The grant-in-aid system has not been extended to such schools, and I am of opinion that to give them Government grants would be a waste of public money, and Government interference would hardly benefit the public.

I quote extracts from letter No. 1295, dated 13th August 1871, from the Director of Public Instruction to the Government :—

"To begin at the bottom of the educational scale, His Honour is aware that Persian and Arabic are taught with more or less success in the indigenous or desi schools frequented by Mussalman children. In these schools the pupils, if they remain long enough, are taught to read and write fluently, if not correctly and intelligently. The more advanced students read Persian books, more distinguished perhaps for their elegance of style than suitable, on the score of morality, for the perusal of the young. Among these the generally beautiful, though sometimes objectionable, erotic poem of Yusaf-o-Zulaikha and the elaborate indecency of the Behari-Danish are the special favourites. Some learn to read the Kuran, but with the most imperfect knowledge of the language of their sacred book. In these schools there is no mental training, nothing, in fact,

which can be called education; regularity, order, method, are all neglected; the children come and go when it suits their convenience; each receives his separate lesson; the eye learns to recognise, and the hand to form, the Persian characters; words are then committed to memory; and this is nearly all the instruction that the teacher wishes to impart or the pupil to receive. The visits of Government officials are looked upon with jealousy and suspicion, and advice, if offered, is rejected. As long as the parents who pay the teachers are satisfied, as they seem at present to be, with this state of things, little improvement in these schools can be expected. It will come in time, but it can come only with the general increase of intelligence."

Ques. 5—What opinion does your experience lead you to hold of the extent and value of home instruction? How is a boy educated at home able to compete on equal terms, at examinations qualifying for the public service, with boys educated at school?

Ans. 5—I have a very low opinion of the value and usefulness of home instruction in India. In the first instance, there are but very few people who educate their children exclusively at home, and the instruction is not liberal in its character, nor is it imparted on European principles. Sometimes a raja or mahajan engages a tutor to teach his son, but the instruction is often limited, and confined generally, if not exclusively, to the literature of one or two languages. Kayasths and Mussalmans, who have a love of bringing up their children on the old method of the Mussalmans, engage a Maulvi, and the instruction imparted is exclusively in the Persian literature, and the most part of it is learnt by rote. The books also in certain cases are objectionable, as tending to deteriorate the character of scholars. Arithmetic, history, and geography are unknown. The middle and well-to-do class of people often entertain the elementary instruction in order to prepare them for admission into a public school.

My own knowledge and experience tell me that a boy

educated at home can never compete with those educated at a public school. The lists of the Calcutta University examinations will bear testimony to this effect. The percentage of private students at such examinations is, I think, very small. In this matter the institutions entirely under Government management take the lead; aided schools come next (though far behind), followed by unaided institutions, and the private students forming only an infinitesimal part of the total number of examinees.

Ques. 6—How far can the Government depend on private effort, aided or unaided, for the supply of elementary instruction in rural districts ? Can you enumerate the private agencies which exist for promoting primary instruction ?

Ans. 6—The time has not yet arrived when the Government should depend on private exertions for the diffusion of elementary education in rural districts. The withdrawal of Government, even if it be in an indirect manner, would certainly be a death-blow to the cause of education. The Natives of this country have for a long, long period been under the despotic rule of Hindu rajas or Mussalman emperors, and have acquired a habit of dependence and slavery which is engendered in their very nature, and it will take a very long time before the benign rule of the English Government can inspire their nature with free thoughts of independence. In India, wherein it is but the dawn of civilisation, such a step would be too early and premature, especially when we see that in England and other European countries, which are far ahead of us in all that appertains to civilisation, elementary education is compulsory. If we turn to the returns of the Education Department we shall be able to see what progress has been made by this country in education by direct Government interference. People of this country, although they pay for primary education in the shape of local rates, care little whether a school situated in their village is opened or abolished. They pay the education cess because they consider it a tax imposed on them by Government, and not with any regard to their own good. It is by direct Government interference alone that this country can prosper.

Aided institutions have failed and will fail to fulfil the object of Government of imparting a thorough elementary education to the masses. We daily see that the aided schools, whether they be managed by Natives or European Missionaries, cannot compete with Government schools of the same standing.

I do not know any private agencies which exist for promoting primary education. If there are any, they must be the Missionaries.

Ques. 7. How far, in your opinion, can funds assigned for primary education in rural districts be advantageously administered by District Committees or local boards ? What are the proper limits of the control to be exercised by such bodies ?

Ans. 7. The local boards have been entrusted with the management of schools in these provinces since 1872, and their powers have been gradually enlarged. They have now a complete control over education, and have the whole inspection staff made over to them. I think this an imprudent and premature step. The members of the Education Board are generally men who have little or no experience in educational matters, who cannot spare time to look to the education of their fellow-creatures. Even if they try to do so, their labour will be perhaps mi directed like an unskilful doctor trying his best to cure his patient, bestowing all his time and labour on him, but finally operating on him in a manner so as to cause his death, without any will or desire on his part to injure his patient's life. I do not mean to say that officials on the Education Board are in any way incompetent for their duty, or all native members as a rule are so; but at least the majoirty of the members are mere puppets in the hands of the President. The Presidents of the Education Board are, as a rule, Magistrates or officers of the same standing, overburdened with work, who even if they try their best, can hardly find time to look to education. There are some able Collectors (whom I could name) who take a hearty interest in the cause of education, but the salutary effect of their endeavours can be felt only in the district to which they are posted. I would only entrust to such bodies the supervision of funds and ask them to render any other

aid the Education Department may require. But in no way should they be entrusted with the management of schools, the appointment or punishment of teachers, selection of the course of study, or the examination of schools; these functions should be entirely left in the hands of the Education Department. Perhaps it may not be out of place to say that Government selects members from the gentlemen of the city without any regard to the literary qualification of the man selected or his experience in educational matters. I do not wish to cite particular instances.

Ques. 8. What classes of schools should, in your opinion, be entrusted to Municipal Committees for support and management? Assuming that the provision of elementary instruction in towns is to be a charge against Municipal funds, what security would you suggest against the possibility of Municipal Committees failing to make sufficient provision ?

Ans. 8. The Municipal Committees have had in their hands the management of the free or ragged schools which were established some years ago in cities and large towns for the education of the children of the lower classes. These schools they may retain, but I think it would be a mistake to make over to them any other schools for management. I do not see how the Municipal Committees can be bound to provide elementary education within their limits.

Ques. 9. Have you any suggestions to make on the system in force for providing teachers in primary schools ? What is the present social status of village schoolmasters ? Do they exert a beneficial influence among the villagers ? Can you suggest measures, other than increase of pay, for improving their position ?

Ans. 9. I think the present system for providing teachers for primary schools is satisfactory, and I have to note only the following points : (1) the teachers receive only one year's training. The Final Certificate Examination is held generally in the beginning of April, after which the school closes for about a month and a half and re-opens in the beginning of July, when new admissions are allowed. The new admission and formation of classes take

almost the whole of July. The period of training, which extends over nine months, has one or two long holidays : for instance, Dashahra and Christmas. I think this term very short, and suggest that teachers should be retained in the school for two years.

(2) The Government calls upon the pupil-teachers to enter into an agreement to serve it for three years in the capacity of teachers. I think this period should be extended to five or six years.

(3) Cases have been known in which certificated men, after leaving the Normal School, have taken to occupations other than teacherships, and the educational authorities have overlooked such breach of contract with a view to avoid the troubles of a civil action. I think a stricter observance of this rule should be enjoined.

The social position of a teacher much depends on the personal character he bears and on his caste; generally the teachers, who are Brahmans, Kshatriyas, and Kayasths, command the respect of the people. But I think their position ought to be higher than it is at present. As a rule, patwaris, mukhtars, &c., are held in better estimation by the ignorant public than our poor school-masters though the latter may draw better pay.

The teachers always exercise a beneficial influence among the villagers. If the Government change the court language of these provinces into Hindi, which is the vernacular taught in schools, or if elementary education is made compulsory, or if the order of the Government, No. 1494, dated 16th July 1877, of these provinces, which ruled that none should be appointed who had not passed certain public examination to Government posts to which a salary of Rs. 10 or upwards was attached, is really carried into force, the status of our school-masters would be materially improved.

Ques. 10. What subjects of instruction, if introduced into primary schools, would make them more acceptable to the community at large, and especially to the agricultural classes ? Should any special means be adopted for making the instruction in such subjects efficient ?

Ans. 10. Our Government has strongly ruled that the agricultural community of these provinces should receive instruction in the three R's, viz., reading, writing, arithmetic, and the attention of the authorities of the Education Department has been always drawn to it. In the order of Government on the Education Report for 1875-76, paragraph 29, page 10, the Government says :—

"With your concluding remarks regarding the halkabandi schools Sir George Couper desires to express his emphatic concurrence. What you say well deserves the attention of all officers connected with the Government. 'We wish,' you write 'that every boy who attends these schools should learn to read intelligently, to write legibly and intelligibly, and to keep simple accounts; and we wish to bring this minimum of knowledge within the reach of every boy in the province.' It is impossible to sum up the educational policy of the Government more correctly or succinctly."

Again, the Government Order on the Education Report for 1879-80 says :—

"It has always been held that the object Government had in view was to give every boy who wished it a chance of acquiring a fairly sound knowledge of reading, writing, and elementary arithmetic, as well as a slight acquaintance with history and geography. It was in order to teach up to this standard that village (halkabandi) schools were established."

Considerable, perhaps undue, efforts have been made by the educational authorities to conform to these orders, and the result has been the reduction of a vast number of middle class halkabandi schools to the primary standard.

I think the following scheme of study may suit the village schools :—

Multiplication table on the principles adopted by chatsal teachers, which is undoubtedly superior to the European system of teaching the same subject. More attention should be given to mental arithmetic, which calls into action the powers of understanding. Arithmetic, first four rules, simple and compound

vulgar fractions, proportion, simple interest, discount, profit and loss, partnership, percentage, and book-keeping.

Writing—Penmanship, dictation, and easy composition.

Reading—Pieces from Ramayan, treatises on agriculture on the system pursued in India, lessons on morality (Rajniti), principles of rent and revenue system. Treatise giving information about details and contents of the patwari's papers. Map of the district.

Optional subjects—Mensuration, map-drawing, and surveying; Euclid and the history or geography of India.

This course, I think, will suit the wants of the agricultural community, and the same with certain alterations can be introduced into the city schools, particular regard being paid to literature.

To suggest the special means for making the instruction in such subjects efficient would be the work of time.

Ques. 11. Is the Vernacular recognised and taught in the schools of your province the dialect of the people; and if not, are the schools on that account less useful and popular ?

Ans. 11. It is rather difficult to answer the question, what is our vernacular language ? In India it is a saying—nay, an established fact—that language varies every 'yojana' (eight miles). In the North-Western Provinces alone there are several dialects. The vernacular of this province, though it can be divided, owing to its various intricate and manifold forms, into a hundred subheads, has four main features—(1) Purbi, as is spoken in Benares and its bordering districts; (2) Kannauji, the dialect spoken at Cawnpore and the adjoining districts; (3) Brajbhasha, as spoken in Agra and its neighbourhood; (4) Kaiyan or Khariboli, as spoken in Saharanpur, Meerut, and the neighbouring districts.

In the city of Benares alone, if you have to ask any man how he is doing, you will use the following different expressions :—

"Apka sarir kusal hai, swasth hai ? Mizaj mubarak. mizaj mukaddas, mizaj sharif ? Apka mizaj kaisa hai? Tohar jiukaisan, bataihau kaisan baya ? Kaisan hoe", &c., &c.,

according as you are a pandit, a munshi, a citizen, or a villager, When you observe such vast variety in one and the same common dialect used in one and the same place, what can you say of the language used throughout the entire province ? The vernacular of this province, therefore, varies according to the caste, birth-place, and attainments of the speaker. I would, therefore, call the vernacular of the province the dialect spoken by all classes of people in public places and on public occasions ; for instance, at royal durbars, courts, public meetings, &c., &c., or the dialect in which books are written.

Thus, it will be seen that out of four features of the vernacular of this province, as noted above, only two, viz., Brajbhasha and Khariboli attract attention. Brajbhasha is used in Hindi poetical composition, and Khariboli under two different disguises is spoken all over the province. The latter consequently, when spoken with abundant use of Persian words and written in Persian character, is styled "Urdu", and when free from such foreign mixture and written in Nagari character, is termed Hindi. Thus, we come to the conclusion that there is no real difference between Urdu and Hindi.

But in these days the two forms of our vernacular occupy the thoughts of the people and afford to them an attractive topic of discussion and a theme for long debates and harangues. The Muhammadans and their fellow-companions, such as the Kayasths of Benares and Allahabad, the Agarwalas and Khattris of the more western portion of the province, call this dialect Urdu, and there are several reasons for their doing so. The Muhammadans for a long time were the ruling power in India, and consequently the dialect spoken by them was considered in these provinces as most respectable. Those who wished to be looked upon as fashionable or polite in public meetings or other assemblages spoke Urdu, and many have recourse to the same practice up to the present day. Excellence in Urdu is imagined to be contained in the use of big and high sounding Persian words to such a degree of profusion as to leave only the verb of the sentence Hindi.

The respect that Urdu commands in the British rule is owing

to its being the court language of the province. The Mussalmans not only have a sharp and oily tongue, but are also very forwa and headstrong, and this is the cause why they overpower other people. By the time the Hindus think to convene a meeting to address the Government and ask it to introduce Hindi, the Mussalmans will have protested the Government to the contrary. If Urdu ceases to be the court language, the Mussalmans will not easily secure the numerous offices of Government, such as peshkarships, sarishtadarships, Muharrirships, &c., of which at present they have a sort of monopoly. By the introduction of the Nagari character they would lose entirely the opportunity of plundering the people by reading one word for another and thereby misconstruing the real sense of the contents. The Persian character, particularly Shikast, in which at present the court business is carried on, is an unfailing source of income to mukhtars, pleaders, and cheats. For example, make a mark like باىر and suppose it to be the name of some village. If we take the first letter to be ب (b) it can be pronounced in eleven different ways : babar, bapar, batar and battar basar, banar, bahar, bayar, bair, again, if we take the first letter to be either (p) (s) (t) (t) (n) (h) or (y), it can be pronounced in 77 more different ways. If we change the vowel points of the first eight words given above, we will have 64 more words, for instance, bunar, hunar, sipar, &c.,. Again, if we will take the last letter to be (z) or (r) we get 304 more words. If we suppose the last letter of the same word to be (d) we get 152 more new words. We thus see that in a word consisting of three letters, in which the last letter assumes only three different shapes, we have in all 606 different pronunciations. If we change the last letter of the same word into (b) we can have a thousand new different pronunciations.

May God save us from such letters ! ! !. What wonders cannot be performed through their medium ? Black can be changed into white and white into black. Writing, which is at present a perpetual source of income in hangers-on of the court, will cease to fill their coffers if Hindi is introduced. Bombast

and high-sounding Persian words which have never been heard of by landholders, cultivators, and traders, are forced into composition purely with a view to yield a harvest to interpreters. If Hindi is introduced, who will pay 2 to 4 annas to learn the contents of summons, or 8 annas to 1 rupee for writing out a small petition ? How can then, a summons to give evidence be interpreted as a warrant of arrest ? The use of Persian letters in offices is not only an in justice to Hindus, but it is a cause of annoyance and inconvenience to the majority of the loyal sugjects of Her Imperial Majesty. Because Urdu is the language of the court, a few people are favourably impressed towards it.

In all civilised countries the language spoken by the people and the character written by them are also used in the courts. This is the only country where the court language is a language which is neither the mother-tongue of the ruler nor of the subject. If you send out two public notices, one written in Urdu and the other in Hindi, the proportion of the people deciphering each can be easily known. But rayats and zamindars have been heartily gratified at the introduction of Hindi letters in summonses issued by Collectors. The bankers and traders keep their account-books in Hindi. The private correspondence of the Hindus is carried on in the same letters. The Hindus speak Hindi in their families, and their women use Hindi characters. The patwari keeps his village papers in Hindi, and the majority of the village schools teach Hindi.

I am sorry to learn that the Honourable Sayyid Ahmad Khan Bahadur, C. S. I., in his evidence before the Education Commission, says that Urdu is the language of the gentry and Hindi that of the vulgar. The statement is not only incorrect, but unjust to the Hindus. With the exception of a few Kayasths, the remaining Hindus, e. g., Khshatriyas, mahajans, zamindars—nay, the revered Brahmans, who speak Hindi—are supposed to be vulgar. In spite of this, though the Lal Sahib (Kayasth) will correspond with the Sayyid Sahib Bahadur in Urdu, yet when writing to his wife he must use the Hindi character.

The days are gone by when Brahmans and Pandits learnt

their Gaitris (the most holy verses) through the medium of Persian. These are the letters which teach us Gul, bulbul, sharab, piyala, ishk, ashik, mashuk, and ruin us. In early age love occupies our thoughts. Karima, Mumukima, and Mahmudnama, are the books for beginners. The 'Karima' is a small good book, but the two latter contain only love odes. Further on, the Gulistan and Bostan are not quite free from occasional mention of love stories. The immoral compositions of Zulekha and Bahar —e— Danish scarcely fail to deprave the mind of the reader. There is a secret motive which induces the worshippers of Urdu to devote themselves to its cause. It is the language of dancing girls and prostitutes. The depraved sons of wealthy Hindus and youths of substance and loose character, when in the society of harlots, concubines, and pimps, speak Urdu, which with its shin, ghain, and kaf, is indispensable in such a company, and one unable to twist his tongue into unnatural and unpleasant distortions is not a welcome or an agreeably companion.

It is a most sound and just principle of our benign Government to act on the wishes of the majority of the subjects. Why, then, not compare the number of the Hindi-reading public with that knowing Urdu ? I beg to draw the attention of the Commission to the education returns of 1873-74. In the halkabundi and primary schools of the North-West, the number of Urdu-learning boys was 33,136 against 92,528 learning Hindi. In female primary schools the number of girls studying Urdu was, 1,175 against 6,873 studying Hindi. Again, when we refer to the educational returns of 1880-81 of these provinces, we see that :—

In colleges there are 769 Hindus, 112 Mussalmans.

In Anglo-vernacular middle schools, there are 6,740 Hindus, 1,522 Mussalmans.

In primary schools, there are 170,478 Hindus, 32,619 Mussalmans.

In Normal schools, there are 177 Hindus, 50 Mussalmans.

In the Benares District, of which place I am a resident, during the current year, there are 103 vernacular schools, of which only eight teach both Urdu and Hindi, the rest being

pure Hindi schools. My statement will be further borne out by a glance at the census returns that the number of Hindi-knowing men is comparatively very much larger than those knowing Urdu. Nobody has hitherto directed his attention to an enquiry into this matter, or else the dispute would have been long ago decided in our favour. If you refer to the post office you will be able to test the accuracy of the fact. I had occasion to make an enquiry of the kind in one of the post-offices, and I was told that half the number of letters that passed through that office bore Hindi superscriptions. Similarly, most of the papers filed in the courts bear Hindi signatures. Almost all the notices of sale, programmes of amusement or play, are published in Hindi. The accuracy of my assertion can be proved by an enquiry for the purpose in any city of the North-western Provinces, except Lucknow, or some such other pure Muhammadan places. The Gospels which Missionaries distribute to the people are generally printed in Nagari or its allied characters, such as Marathi, Gujarathi, Bengali. Some say that swift writers of Hindi are not available. I can guarantee to procure a thousand such men in a month.

As I have mentioned above, the 2nd branch of Khariboli is Hindi, which is also called Aryabhasha or Sadhubhasha. Hindi is made to appear hard and difficult by our Pandits on account of profuse use of Sanskrit words which are far beyond the average understanding of the ignorant public. For example, 'mar kha kar wuh bhag gaya' this is a pure Hindi sentence. The Maulvis would translate it 'wuh zad ko bardasht kar apne mukam ko farar hogaya'. The Pandits would say 'wuh mar sahan kar swagriha ko palain hogaya.' This interposition of foreign words has spoiled true Hindi. Hindi by itself without much foreign aid can easily answer our purpose. Look at the language of the 'Rani Ketaki ki Kahani" (Story of Queen Ketaki), compiled by Insha Allah Khan. The constant war in which Maulvis and Pandits have engaged themselves has ruined the cause of true Hindi. Our vernacular is neither the

language of the Maulvis nor that of the Pandits. It is something between the two; it is "the golden mean."

Our law terms which are intended to be understood by the masses give amazing examples of Maulvis' Pedantry. Thus, for 'indivisible', the term used is 'Ghair mumkin ul taksim' for declaratory decree, Hukm mushirisbat-i-istihkak; for barred by limitation, kharij az miyad-i-samaat; for one-fourth, rub'a; for declaration of right of occupancy, Istikrar-i-hakk-i-mukabizat-i-kashtkarana. I do not see why such words should have a place in legal papers, school-books, or daily conversation.

The compulative articles az, al, zer, o, by which several words are joined to make one compound, and which often render the sense obscure, should be disused. I do not mean to say that all Persian words should be banished from our vernacular. This is beyond our power. Who can dispense with the words 'matlab', 'adalat', 'hazar', 'jahaz', 'wazir', 'badshah', 'jama' kharch', 'nekniyat', 'sahib' ? Even Chand, the famous bard of Pirthviraj, has used such words in his early poems :

'Auladi tas tanaike.'
'Mete sad nishan ke'.
'Ghan gherik kiya supanj baran'.

Suradasa, a later Hindi poet, has also used a good many Persian words, *e. g.*,—

'Haun ghulam prabhu swami.
Jaise ure jahaz ko pachchhi,
Madho iti araj suni lijai'.

Even Sanskrit authors have sometimes employed Persian words : Lolimbaraja, in his work on medicine, writes "Rachayati charkadina vikshya vidyavatansah kavikulasultanolal Lolimbarajah." The famous Pandit Raja Jagannatha says "Agaramagatah Shah Jallaladin." In the Rajatarangini we meet with many Persian words : for instance, dinar, shah. In works on astrology we find Hanpha, Sunpha, Itthisal. To insist on expelling all Persian words from Hindi composition

is a mistake. We neither wish to have Hindi of this sort : "Nabhomandal ghanghatachchhan honelaga; vividha wat wahulya se itastatah kujhjhatika nipat dwara rasatal tamo maya hogaya," nor Urdu of this style : "Chyunki dawa-i-muddai bilkull baid az 'akl o guzashta az hadd-i-sama'at o khilaf az kanun-i-murawwija-i-mulk-i-mahrusa-i sarkar hai." We want the pure simple vernacular understood by the public and written in the character familiar to the majority. In books of science, of course, we are compelled to use technicalities for which we cannot find equivalents in the vernacular; but in conversation, in books for a family instruction for children's school-books, in court papers, in newspapers, and public lectures, we want that easy and colloquial language which can truly and correctly be called our mother-tongue.

Ques. 12. Is the system of payment by results suitable, in your opinion, for the promotion of education amongst a poor and ignorant people ?

Ans. 12. The system of payment by results may be suitable in the case of aided schools, which, as a rule, at present receive much aid and do little work. The fact will be borne out by the results of the University and the departmental examinations and the examinations of Inspectors of Schools. In Government schools, which are already placed on a secure footing, the introduction of the system would prove injurious.

Ques. 13. Have you any suggestions to make regarding the taking of fees in primary schools ?

Ans. 13. In India the people have not been in the habit of paying any fees for education since time immemorial. Up to the present day, in indigenous Sanskrit schools, whether primary, middle, or high, education is given entirely gratis. The teachers are strictly forbidden by religion to charge anything for imparting instruction. Even Maulvis who keep Arabic schools do not charge for tuition.

Our philosophers and sages never paid any fees to get their vast attainments. I cannot see why the agricultural community should be called on to pay any fees for primary education when

they already pay a cess for the purpose. To charge even a small fee in such schools would be injurious to the progress of educations.

A very short time ago, when Mr. Kempson was the Director of Public Instruction of these provinces, it was proposed to charge the children of the non-agricultural community half anna per month per boy. The system was allowed a trial for a while, but, having failed, it was finally abandoned.

Ques. 16. Do you know of any cases in which Government institutions of the higher order might be closed or transferred to private bodies, with or without aid, without injury to education or any interests which it is the duty of Government to protect ?

Ans. 16. The people of India have always been under the monarchical form of Government, and it is their idolatrous tendency that they always like to have some visible object of worship round which they can gather and to which they can pay homage. They must have a king, a ruler, a master whose orders they would always obey without questioning his authority. Leave them to themselves and they are out of their element. In our language we have no such word as "public", we translate it as "Sarkar", which signifies "head of the work". We have no equivalents for "nationality" or "patriotism." To expect us to provide even primary education, to say nothing of high education, to our progeny, is a mistake. Hitherto, at least as I think, India has made but little progress in civilisation, and is not yet prepared to take upon herself the responsible duty of providing education for her children. We daily see from the results of the University examinations and departmental tests that boys educated at Government schools always stand ahead. The number of those educated in private institutions is comparatively very small. The quality of instruction given in such schools, whether managed by Missionaries or Natives, is undoubtedly much inferior to that given in Government schools. To entrust to the people of this country, and especially in these provinces, the task of the diffusion of education, would be a

premature measure sure to end in evil results. It is my honest conviction that such a step would ruin the cause of education. The blessed rule of English Government and a salubrious system of education administered by it, will in course of time cast the children of India in a mould of civilisation, freeaom, and self-help. At present they are too young, and must depend for their nourishment upon their parent—the British Government. Some of India's truant children may wish to throw off the yoke of the mild parental sway too early, but when they acquire sufficient maturity of understanding they will have reason to regret their folly.

Ques. 17. In the province with which you are acquainted, are any gentlemen able and ready to come forward and aid, even more extensively than heretofore, in the establishment of schools and colleges upon the grant-in-aid system ?

Ans. 17. In the first place there are no Native gentlemen or private bodies willing to come forward and help in the establishment of colleges on the grant-in-aid principles.

The litigation of this country is too well known. There is no such thing as union in this country. Members of the same family cannot decide their own family disputes without going into court. I cannot for a moment think that it can be possible for Natives to combine together in a body to partake in the administration of the country.

Ques. 18. If the Government, or any local authority having control of public money, were to announce its determination to withdraw, after a given term of years, from the maintenance of any higher educational institution, what measures would be best adapted to stimulate private effort in the interim, so as to secure the maintenance of such institution on a private footing ?

Ans. 18. The Natives of this country, at least of these provinces have been under a strict impression for the last eight or nine years, that the Government wishes to shut up the doors of education against them; that it thinks the Education Department the most superfluous of all the departments of the State; that

this is the only department which shows all expenditure and no income; that Indian youths aspire for Government posts, and upon failure turn round and abuse the very Government that educated them. I quote the following from G. O. No. 391 A., dated 28th November, 1877 :—

"Expenditure on educational objects in these provinces had largely increased of late years, resulting in a severe annual strain on the revenues of the Local Government. When, therefore, pressing financial necessities, arising from a variety of causes, compelled the Government to retrench in all departments, it was absolutely necessary to abandon or curtail some of the most costly and least successful educational experiments that had been undertaken, and generally to cut down expenditure to the lowest point consistent with efficiency. The Lieutenant-Governor is satisfied that the unpleasant policy of retrenchment has been carried out judiciously. One college, with a small attendance and a large staff, was reduced; but there remain the large and flourishing central college at Allahābad and the sister institutions at Benares and Agra, amply sufficient for the needs of the province. On the aided Anglo-vernacular schools much public money was thrown away, the results being most disappointing, and the raison d'etre of the schools being in many cases non-existent : here retrenchment naturally and justly followed. So, too, in regard to female schools, where the policy of the Government is rather to foster and supplement local private effort than to organise a system of State schools for which, in the present state of native society, no adequate demand exists."

This impression of the public has been gradually ripened into firm conviction by the wholesale reduction made in the Education Department during the last ten years. More than one hundred Anglo-vernacular schools which had been established by private exertions in principal towns or the diffusion of elementary education in English, and which depended for their existence partly on local subscriptions and fees and partly on

the Government grant-in-aid, were closed in a day and several thousand boys lost the boon. A similar misfortune befell the girls' schools. More than 200 of them were shut up at once, and four thousand girls were left without any means of instruction. Of two Sub-Deputy Inspectors in each district only one remains now. The offices of Assistant Inspectors and Inspectresses of girls' schools were abolished. Although the number of Inspectors was raised from 4 to 7, their pay was considerably reduced. The case was similar with the Normal schools; their number was increased, their status and expenditure considerably diminished. The Bareilly College was closed. The status of the school department of the Benares College was considerably lowered. The Anglo-Sanskrit department was shut up. The amounts for scholarships and prizes were cut down.

Any further step on the part of Government likely to interfere with the cause of high education will be received by the people with the utmost dissatisfaction and would crush their very minds. We first ask the Commission to give us high—nay, higher—education for at least half a century more, till we attain some understanding and be able to judge for ourselves, and then put us this question. We may then perhaps be able to suggest measures to stimulate private effort to secure the maintenance of high educational institutions on a private footing.

If we are required to answer this question today, we say that we will adopt the same measures which we adopted after the abolition of the Bareilly College or after the demolition of the temple of Viswanath by Aurangzeb, or that on Somnath by Mahmud Ghaznawi.

Ques. 21. What classes principally avail themselves of Government or aidded schools and colleges or the education of their children ? How far is the complaint well founded that the wealthy classes do not pay enough for such education ? What is the rate of fees payable for higher education in your province, and do you consider it adequate.

Ans. 21. People of all castes (with the exception of a few very low castes) avail themselves of Government colleges and

aided schools. Mussalmans avail themselves but little of such institutions. They are averse to learning English, and even to learning oriental or vernacular languages in Government schools. Their religious prejudices are too well known to be described, and the reason for their not attending Government schools is not far to seek.

I do not very well see how the complaint that the wealthy classes do not pay enough for education can have any foundation. If we turn to the history of all colleges and high schools in these provinces, we will be able to see how liberally the rich men of this country have contributed towards education. Some will go so far as to say that what they subscribed was only to please some high Anglo-Indian official but this will go only to prove the slavish disposition of the people, and to show that great things can be easily accomplished by a little Government interference.

The following details may perhaps show that munificent contributions have been made and are being made by the people of this country :

Agra College

The Agra College was in 1823 endowed by Pandit Gangadhur with the interest of a lakh and a-half of rupees and the revenues of certain villages in the Agra, Aligarh, and Muttra districts. Besides this it has the following endowments :—

Rs. 12,500, Mancel, Robertson and teachers for scholarships.

Rs. 2,500, Thomason medal.

Rs. 5,000, called Colvin Memorial, for small scholarships.

In addition to the above, the college receives a yearly grant of scholarship money from the Gwalior and Bhartpur Durbars.

Benares College

The college building, which cost about a lakh and thirty thousand rupees, was erected chiefly from the subscriptions

raised from the people. The inscription on the outer walls of the college describes the names of the persons from whose donations different portions of the college were built. His Highness the Maharaja of Benares contributes largely towards the expenses of the Sanskrit College.

The following is a list of minor endowments—

Rs. 5,000 by Maharaja....Ghoshal for scholarships.

Rs. 13,000 by Vainkatacharya for the library.

Rs. 5,000 called Tucker scholarships.

Rs. 500 by Radha Bibi for a prize,

Rs. 7,000 by Maharaja of Vizianagram for scholarships.

Rs. 5,000 by Maharaja of Rewah for scholarships.

Besides the Vizianagram and Tucker medals.

Muir College, Allahabad

For the creation of this college the leading Native gentlemen and Chiefs in the province and the adjoining independent States subscribed 1½ lakhs of rupees towards the building and Rs. 62,000 for the provision of scholarships.

Now we come to schools—

Moradabad zilla school chiefly depended on endowment of Rs. 72,000, yielding an annual income of Rs. 3,600, besides Rs. 250 realised as rent of certain shops bequeathed to the institution; besides Mirza Tanna Singh's property yielding an annual income of Rs. 250.

Mirzapur zilla school, when first founded, was wholly supported by subscriptions which were collected to the amount of Rs. 48,261. The Oriental department of this school is entirely supported by an endowment fund.

The building of the Banda zilla school was erected from subscriptions raised by Mr. Mayne and a Missionary.

The school-house of Budaun was built from subscription raised from among some rich residents of the town and the zamindars of the district.

In 1864 the people of Cawnpore subscribed Rs. 50 monthly for the Anglo-vernacular school of that place, and afterwards

the amount increased to Rs. 70 a month. The local gentry made a further endowment of Rs. 3,000 in 1870. A certain gentleman named Amernath made bequest for education, and a building from the Amernath Fund was erected with Government aid. It is called Amernath's school.

In the establishment of Etawah High School Mr. Hume "was zealously and liberally supported by the Native gentry." and for a time a headmaster on Rs. 45 and four more assistants were paid out of fees and monthly subscriptions.

The cost of the school building is about Rs. 34,000, out of which Rs. 2,400 were paid by the people.

The furniture and other requisites were supplied by private liberality.

Farukhabad zilla school was only a private Anglo-vernacular school in the beginning.

Rs. 2,000 were subscribed by the people for the erection of the Muttra school, and they further subscribed to pay the cost of a boarding-house.

Shahjahanpur school was supported by local subscriptions.

Bulandshahr school partly depended on subscriptions. The headmaster lately used to receive Rs. 25 from people as part of his pay.

The school building at Etah was erected partly from local subscriptions. Raja Dilsukh Roy erected afterwards a building for the school.

Bijnor school was formerly supported by a subscription of Rs. 100 per mensem raised from the people.

The Fatehpur school was formerly a subscription school.

The expenses of the English branch (now abolished) of the Gorakhpur zilla school were partly paid by subscriptions.

The school af Hamirpur received a subscription of Rs. 1,400 for its building.

Jhansi zilla school was a subscription school with an income of Rs. 150 per mensem.

The Lalitpur zilla school was partly supported from subscriptions.

In the Mirat zilla school the pay of five teachers, house-rent, contingent expenses, were partly paid from local subscriptions.

Muzaffarnagar zilla school had a handsome monthly allotment from one Nasra-ulla Khan. Afterwards Roy Durga-prasad tried to open an English class and appointed a head master on Rs. 50 entirely paid from subscriptions.

In 1866 the Saharanpur school was endowed with a fund raised by voluntary contributions, the income from which amounted to about Rs. 62 per mensem.

The boarding-house attached to the Benares College was built from a bequest left by Babu Ramaprakas Sinha of Domraon.

In addition to these, during the Governorship of Sir William Muir, more than one hundred middle class schools had been opened by private efforts in large towns for the spread of elementary education; they were partly maintained by fees and partly by grant-in-aid from Governmnent.

The largest and the most important contribution of the people of this part of the country was what was afterwards called the school fund. This sum, if I mistake not, was voluntarily subscribed by the landholders of this and part of Allahabad Division, who, without any persuasion or compulsion on the part of Government, without any Act or law passed by it, on the mere representation of the Hon'ble Raja Siva Prasad, C. S. I., who was then the Joint Inspector, D. P. I., and had been ordered by Government to institute schools, came forward and agreed to pay one-third per cent. more on the land revenue to Government Treasury on behalf of education. This sum, supplemented by a similar grant from Government, formed the nucleus of the village schools of this circle. The Government, in their order on the Education Report for 1878-79, say : "I am to express regret at the retirement of Raja Siva Prasad, C. S. I., who had been connected with the department since its institution and had done excellent service, especially in instituting village schools in the Benares Division."

When the Local Rates Act came into force in 1872, the

school fund was merged in it. In the face of all that has been mentioned above, I would only ask the Commission to decide whether the people of the province can be blamed for not paying sufficiently for education.

The grants already assigned by the people have been, in my opinion, wrongly spent. We do not want splendid stupendous gothic palaces for our boys to sit in to be educated. Our philosophers, who were the source of civilisation, and from whom western nations borrowed the fine arts and all that appertains to civilisation, were not educated in palaces, but in hamlets and under the shade of trees.

Had the above sum been only used in instituting professorships, the Government of India would not have had the opportunity of inviting this Commission and saying that the expenditure on high education is unduly enormous.

The present rates of tuition fees are Rs. 3 in the Arts class, Rs. 5 in the B. A. Class, and Rs. 1-8 in the Entrance.

The rates appear adequate; but, as the Government seem anxious to raise the amount, the minimum fees may be at the following scale, as it was for some time in the Benares College :

Entrance	Rs. 3
Arts	Rs. 5
B. A.	Rs. 5

Ques. 22. Can you adduce any instance of a proprietary school or college supported entirely by fees

Ans. 22. No; I do not know of any such instance.

Ques. 23. Is it, in your opinion, possible for a non-Government institution of the higher order to become influential and stable when in direct competition with a similar Government institution ? If so, under what conditions do you consider that it might become so ?

Ans. 23. I do not think it is at all possible. Whatever encouragement the Government might give to non-Government institutions, it is my honest conviction it will totally fail to compete with a similar Government institution, unless the Government itself were to take the management of it into its own hand.

Ques. 24. Is the cause of higher education in your province injured by any unhealthy competition; and if so, what remedy, if any, would you apply ?

Ans. 24—No; there is no such competition to which the word "unhealthy" can be applied in any sense. The Missionaries and proprietors of aided schools, who are in receipt of large grants from Government, and whose schools cannot compete with similar Government institutions at public examinations, blame the University course, consider it too high, find fault with it, and say that Government does not give useful instruction.

Ques. 25—Do educated Natives in your province readily find remunerative employment ?

Ans. 25—I cannot but express my deep regret to answer this question in the negative. The Government has hitherto turned a deaf ear to our prayers in this matter. After repeated representations of the complaint by the Education Department in the year 1877, the Local Government passed an order ruling that no Government appointment to which a salary of Rs. 10 or upwards was attached should be given to a person who had not passed a certain public enamination. The rule was heartily welcomed by the educated, who thought the golden age had again returned, and that none but the really deserving would have the monopoly of Government posts. Alas ! to their mortification and surprise, the Government order was consigned to the waste-basket by Anglo-Indian officials. It is no more than a dead-letter now. If a report be called for from all the departments of Government administration, as to how far effect has been given to this order of Government, my statement will be borne out.

A large majority of the Anglo-Indian officials have a deep-rooted prejudice against the graduates and under-graduates, and systematically shut to them the doors of responsible Government posts. They prefer employing men of the old school, who are neither well educated nor possess any high moral sense, but are ready to bear patiently the abusive language and offensive manners of their superiors. On the contrary, the Anglo-

Indian functionaries hate the University-educated men, who seldom refrain from criticising the conduct of the authorities when they pass the bounds of propriety or give way to their whims. The amla try their utmost not to let University men pollute the atmosphere of their jurisdiction or trespass on the limits of the cutcherry, into which they think that they themselves and their belongings only have a right to enter. The officials always accept the nominations of their serishtadars and head clerks. The claims of the educated are persistently ignored : they are deliberately kept down, and all the avenues to distinction are shut to them. The Government of these provinces has done but little to help such men, and this is the reason that such men go round from door to door of all the departments begging for employment. If the Commission were to take up the list of Sub-Judges, Munsifs, Deputy Collectors, tahsildars, peshkars, munsarims, serishtadars, head-clerks, and subordinate amla, it will readily find whether such people can find employment is the Education Department ?

Ques. 26—Is the instruction imparted in secondary schools calculated to store the minds of those who do not pursue their studies further with useful and practical information ?

Ans. 26—I do not think that the instruction imparted in secondary schools is sufficient to store the minds of those who do not pursue their studies further with useful and practical information. For this purpose the standard should be revised and raised a little.

Ques. 27—Do you think there is any truth in the statement that the attenttion of teachers and pupils is unduly directed to the Entrance Examination of the University ? If so, are you of opinion that this circumstance impairs the practical value of the education in secondary schools for the requirements of ordinary life ?

Ans. 27—It is a deliberate falsehood, framed by the enemies of education, who, under the cloak of friendship, wish to deal a deadly blow to its cause. From the education returns of 1880-81 we see that 270 students passed the Entrance Examina-

tion, 522 the Middle Class Examination, 7,567 the Upper Primary Examinations, and 16,434 the Lower Primary Examinations.

Ques. 28—Do you think that the number of pupils in secondary schools who present themselves for the University Entrance Examination is unduly large when compared with the requirements of the country? If you think so, what do you regard as the causes of this state of things, and what remedies would you suggest?

Ans. 28—No; this is not the reality. The number appears to you too much because the under-graduates cannot find employment and go on petitioning from one department to another. If the Government were to employ none but the educated, such a complaint will seldom be heard; on the contrary, they will with difficulty find sufficient number of men to fill up all their offices.

Further answer to this question will be the same as the answer to question 25.

Ques. 32—What is the system of school inspection pursued in your province? In what respect is it capable of improvement?

Ans. 32—The establishment entertained for Inspectors of Schools consists of one Inspector for each Revenue Division; one Deputy Inspector, and one Sub-Deputy Inspector for each district. There are one or two districts in this province in which there is no Sub-Deputy Inspector. The Deputy Inspector and Sub-Deputy Inspectors have to travel for school inspection throughout the year in all the months. A Deputy Inspector, as a rule, is required to visit all the schools of the district twice a year, and the Sub-Deputy Inspector perhaps three times, except under certain circumstances, where the nature or climate of the district does not allow rapid movement. The Inspectors travel in the cold season, generally commencing their tour by the end of October and finishing it by the middle of March. They visit all the tahsili and pargana schools—in other words, middle class schools and for the examination of primary village schools they halt at central spots in a district where the

Deputy Inspector collects the upper class boys of the neighbouring schools. The Inspector in this manner is enabled to visit all the middle class schools and the majority of the lower class. The supervising staff noted above, as it exists at present, is, in my opinion, quite insufficient for the work of inspection—I do not say examination or management. It is next to impossible for a Deputy Inspector and his assistant to have a strict watch over their subordinates, to see whether the teachers who are far from them scattered in the district punctually and regularly open the school and devote certain fixed hours in honestly performing their duty. A village schoolmaster who is not well paid, whose school is often far away from the central station of the district, having no one over himself to watch, is naturally tempted to be lazy. I hardly know a district where primary school teachers are not often punished for unauthorized absence from their duty. There were formerly two Sub-Deputy Inspectors in each district. A short time ago, when a wholesale retrenchment in the Educational Department of these provinces was going on, the number of Sub-Deputy Inspectors was reduced to one for each district. I think the village schools must be visited at least once every month. The visits must be all of a sudden, unexpected, and not on any fixed dates. In order to attain this end I think there must be at least four Sub-Deputy Inspectors in each district. They must chiefly confine their attention to test the regularity of the teachers, to see whether they are punctual and attentive to their duty, and to see what progress has been made by the boys during the last month. They used not to spend so much time in examination as they are required to do now. The question may naturally arise—cannot we turn to any use the members of the District Educational Committees? I can safely answer in the negative. I have seldom known any member visit a village school, much less try to find out the teacher's unauthorised absence. Ask the presidents of the committees to furnish a list of the district school-masters found absent from their schools by any official or non-official members of the committee, with the exception

of those reported so by the officer of the Education Department. If any member expresses his desire to help the Department in the work of inspection, let him be called Honorary Deputy Inspector or Inspector, and let him take an actual share in the management and visitation of schools.

The Deputy inspector's chief work should be the management of schools, the searching and thorough examination and careful testing of the work of his subordinates, the Sub-Deputy Inspector, and teachers. If I mistake not, under the departmental rules of these province a Deputy Inspector is required to visit two primary schools or one middle class school every day. This I consider a mistake. The utmost work that we could exact from him is seven hours a day. This time, of course, includes the time spent by him in travelling, examination of schools, and office work. When he is required to inspect two schools a day, he is naturally led to curtail the examination; the distance between schools and the office duties of course he cannot shorten.

I am averse to the present system of examination conducted by the Inspectors, who collect boys of several schools, in most cases of the upper classes only, to a central spot. This examination is neither thorough nor searching, and the Inspectors as a rule, have to depend on the reports of their subordinates—the Deputy and Sub-Deputy Inspectors. I think that the examination of all the schools by the Inspector must be in situ, i. e., they must go from school to school. They would then have an opportunity of really testing the work of their subordinates and have an insight into the work done. The question may then arise—How is it possible for an Inspector who has six or seven districts under him, to go from school to school? Let him not visit all the schools of the division. He should see a few schools selected at random in each district. Severer punishments than hitherto given should be given to the teachers for absenting themselves from their places without leave of absence and for making false entries in school registers.

Ques. 33—Can you suggest any method of securing efficient voluntary agency in the work of inspection and examination?

Ans. 33—I am sorry to say I cannot suggest any such measure. The members of the educational committees have signally failed to take up this duty. If there are any men willing to undertake this work, let them accept honorary posts in education and let them have a real share in the work.

Ques. 34—How far do you consider the text-books in use in all schools suitable ?

Ans. 34—For the text-books, let a separate committee be formed, and let them consider the suitability of text-books. If I were to offer criticisms on text-books, my answer would be indefinitely prolonged.

Ques. 35—Are the present arrangements of the Education Department in regard to examinations or text-books, or in any other way, such as unnecessarily interfere with the free development of private institutions ? Do they in any wise tend to check the development of natural character and ability, or to interfere with the production of a useful vernacular literature

Ans. 35—I do not at all think that the present arrangements of the Education Department in regard to examinations or text-books, &c., do in any way interfere with the free development of private institutions. On the other hand, they serve as very good models to them. The system may be of course injurious to those who do not receive a thorough or deep education.

Ques. 36—In a complete scheme of education for India, what part can, in your opinion, be most effectively taken by the State and by other agencies ?

Ans. 36—The management and supervision of schools should rest entirely in the hands of the Government. The public should be left to watch, review, and criticise what is done by Government officials, and suggest means of improvement.

Ques. 37—What effect do you think that the withdrawal of Government to a large extent from the direct management of schools or colleges would have upon the spread of education,

and the growth of a spirit of reliance upon local exertions and combination for local purposes ?

Ans. 37—Nothing in India has ever been done by the public. I have already said that there is no such word as "public" in our language. The withdrawal of Government interference would deal a death-blow to the cause of education. I have already stated above that when the Bareilly college was abolished, that when more than a hundred middle class vernacular schools and as many girls' schools were closed, what steps were taken by natives of this country with regard to maintaining those institutions. No growth of spirit of reliance upon local exertions and combination for local purposes can be expected at present in India. It will be a blunder to expect Natives to take any steps in this direction.

Ques. 38—In the event of the Government withdrawing to a large extent from the direct management of schools or colleges, do you apprehend that the standard of instruction in any class of institutions would deteriorate ? If you think so, what measures would you suggest in order to prevent this result ?

Ans. 38—Should the Government withdraw from the direct management of schools, the education of the country would certainly suffer, and the standard of instruction in all classes, especially high institutions, would surely deteriorate. We should be able to suggest some measure to prevent this, if we could by any means have inspired into us the same feelings of "nationality" which the Europeans possess.

Ques. 39—Does definite instruction in duty and the principles of moral conduct occupy any place in the course of Government colleges and schools ? Have you any suggestions to make on this subject ?

Ans. 39—No instruction in duty and principles of moral conduct occupy any place in Government colleges or schools. It is a want extremely felt, and such study ought certainly to have a place in the school and college curriculum. Books may be selected hereafter, but in no way should they be such as to interfere with the religious views of any sect of people.

Ques. 40. Are any steps taken for promoting the physical well-being of students in the schools or colleges in your province? Have you any suggestions to make on the subject?

Ans. 40. Little is done in colleges or schools to promote the physical well-being of the students. More attention is needed. It would be the work of those who understand gymnastics to suggest what particular kind of exercise will be useful to students to keep them in good health, with their digestion and brains in good working order.

Ques. 41. Is there indigenous instruction for girls in the province with which you are acquainted; and if so, what is its character?

Ans. 41. There are very few public schools for indigenous instruction of girls. I know one or two of the kind. There is a large school of this class at Benares supported by His Highness the Maharaja of Vizianagram attended by about 500 girls under the supervision of European ladies. But it must be remembered that almost all the girls are paid for attendance, and the majority of them come from the low classes.

The books in use are to a great extent those taught in boys' schools belonging to Government, and the standard reached is that of the upper primary examination of Government.

These books are objectionable on several points. I fully agree with Miss Rose Greenfield that the Prem Sagar must not be put into the hands of "big girls."

The Vidyankura and Itihasa Timirnasak can in no way improve their moral character. Better books containing lessons in morality, house management, &c., should be introduced.

There is little inclination on the part of the natives of this country to send their girls to public schools; they are generally opposed to such a scheme. But we have something like "home" education. Respectable people do not wish to send their girls, of whatever age they be, to a public school, whether under the management of Government or private individuals; and therefore they generally employ a tutor of their own to educate their girls. The home education is often of a religious character,

and has little to do with Western enlightment. Religious books containing lessons on principles of morality and household duty are generally read. The Muhammadans teach the Quran to their girls.

Ques. 42. What progress has been made by the department in instituting schools for girls, and what is the character of the instruction imparted in them? What improvements can you suggest?

Ans. 42. I cannot but express my deep regret when I say that the attitude of the authorities for the last eight or nine years has been anything but favourable towards this section of popular education. It is true the natives of this country do not wish to educate their females at public schools, but it is the duty of our Government to remove this ignorance from their minds. It cannot be denied that the majority of the schools that were closed by Government had only a nominal existence; yet if they were attended by only a few pupils, they would have accomplished the purpose of stimulating and inducing the public to follow the example. Since the termination of the government of Sir W. Muir there has been a retrograde motion in this direction. I have already noted that by one fiat of Government about 200 girls' schools were closed, the office of Inspectress of Schools was abolished, and the remaining schools were made over to the districts committees for management. I cannot but express my regret that the Committee hardly know in what part of the district these schools are, to say nothing of what is being done in them. They are generally left to Deputy Inspectors for supervision, who, in my opinion, can hardly manage them satisfactorily. Their visits, as far as I think, are scarcely calculated to be beneficial. The services of a European Inspectress, not belonging to a Missionary Society, is urgently needed. The standard of instruction reached by Government schools is lower than that of the boys' schools.

The Government, I suppose, grant comparatively a large sum of money to Missionaries for the diffusion of female education. But they devote the amount in a great measure to the education

of Christian girls, their aim being chiefly to give religious instruction.

Ques. 43. Have you any remarks to make on the subject of mixed schools ?

Ans. 43. I cannot approve of the plan of having mixed schools in this country. The Indians have an invincible prejudice to their girls being simultaneously brought up with boys in the same school. Such a measure is contrary to their feeling of propriety and the prejudices of the "parda" system. Besides, girls in the warm climate of India attain the age of puberty earlier than in cold European countries, and therefore the mothers are absolutely opposed to the plan that their girls should mix with boys, of whatever age the former may be. The apathy of the people in the matter of female education is insurmountable, and it will be more so should mixed schools be established.

Ques. 46. In the promotion of female education, what share has already been taken by European ladies, and how far would it be possible to increase the interest which ladies might take in this cause ?

Ans. 46. European ladies of the Civil, Military, or Education Departments have shown little interest in female education. Should these ladies do so, the cause of female education in India might prosper and good results might be achieved. The Mission ladies have evinced some interest, but their visits to the zenana have been seldom reckoned as beneficial. They are naturally inclined to inculcate religious principles and free thoughts which, instead of creating in the minds of native women a desire for education, generally make them averse to it. They are led to consider that the sole aim of such ladies is to convert them, and therefore they scrupulously avoid mixing with the supposed enemies of their religion.

Ques. 48. Is any part of the expenditure incurred by the Government on high education in your province unnecessary ?

Ans. 48. I do not consider any expenditure incurred by Government in these provinces on high education in the least unnecessary, except the large pay of the principals, and in some

cases even that of professors. I think more retrenchment has been made in these provinces in high education than in any other province. The Bareilly College has been abolished, the fate of the Agra College trembles in the balance, the M. A. class of the Benares College has been closed. On the other hand, I consider the expenditure in this respect insufficient. We have no able professors of every branch of study in our colleges.

England is not larger in area than the North-Western Provinces, and I think it has more colleges than there are in more than half of, or even the whole of, India. We cannot very well see why the Government should grudge us two or three colleges in each province. I am of opinion that a smattering of knowledge afforded to many will do less good to the nation than a sound and deep knowledge imparted to a few, as a popular proverb goes :—

"A little knowledge is a dangerous thing;
Drink deep, or taste not the Pierian spring."

To quote the words of the Government of these Provinces (vide Government Education Report for 1881, page 17, para 16).

"It remains briefly to notice the leading characteristics of the present educational status of the provinces, as brought out in your report for the year. It is clear so far as University education is concerned, and more especially English University education, there is nothing to be desired, either as regards the character of the institutions at which it is given, or the personnel of the tuitional staff, which is quite capable of doing justice to double or treble the numbers at present under their charge. But the people are still unwilling or unable to take advantage of the opportunities offered them. The richer classes who are able to pay stand aloof; and the poorer, it is to be feared, regard education simply as giving them a claim to Government appointments hereafter, and feel it a grievance if they do not get them. The Agra College, with its staff of able professors and empty class-rooms, is a melancholy proof of how little high class education is deemed to be a desideratum by the upper and well-to-do classes of native society. The besetting fault of middle class schools is evidently to neglect the drudgery required for a thorough

grounding in elementary subjects, in the delusive hope of achieving showy success in the Entrance Examination, the result too often being disappointing and discreditable to masters and pupils alike. Too much pains cannot be taken to disabuse masters of the idea that they will be judged solely by the success of their pupils in this or any other examination, and Inspectors should impress on them that their efficiency and claims to promotion are held to depend upon the state of all their classes, low as well as high, and the general condition of their schools, and should give practical effect to this principle whenever opportunity occurs."

The Government says that high education is not cared for, and middle school instruction is merely showy, and lower education is neglected. I lay before the committee a test of the last seven years' results of the University and Entrance Examination, which will show that a gradual improvement has been made in all the examinations of the University, while progress in primary education has not been retarded. We cannot understand why the Government should charge us with apathy when the country is gradually making improvement with regard to education. There is a decrease in the M. A. class students, but this is owing to tne abolition of the M. A. class in all other colleges of the province except that at Allahabad. The primary education is not neglected, as the results of the upper and lower primary examinations instituted by Government will beai testimony :—

Examination	Government	Other Schools.	
	1874–75		
M. A.	1	0	Only one M. A. class at Allahabad.
B. A.	5	0	
F. A.	23	2	
Entrance	74	38	
	1875-76		
M. A.	1	0	Ditto
B . A.	11	0	

F. A.	34	5	
Entrance	31	37	
	1876—77		
M. A.	5	0	Ditto
B. A.	18	0	
F. A.	17	5	
Entrance	79	68	
	1877—78		
M. A.	4	0	Ditto
B. A.	9	0	
F. A.	31	2	
Entrance	69	51	
	1878—79		
M. A.	4	1	
B. A.	14	4	
F. A.	17	17	
Entrance	123	77	
Middle Class Examination	330	28	
Upper Primary Ditto			
	1879—80		
M. A.	3	Nil	
B. A.	9	4	
F. A.	29	15	
Entrance	86	63	
Middle Class Examination	92	71	
Upper Primary Examination	4,175	514	
Lower Ditto	12,878	946	
	1880—81		
M. A.	4	3	
B. A.	15	7	
F. A.	21	27	

Entrance	142	125
Middle Class Examination	458	58
Upper Primary Ditto	6,893	474
Lower Ditto Ditto	15,540	894

Ques. 54. Has the demand for high education in your province reached such a stage as to make the profession of teaching a profitable one ? Have schools been opened by men of good position as a means of maintaining themselves ?

Ans. 54. I am sorry to say that the demand for high education has not reached to such a stage, and even if it ever did so, India is a place where people have not been in the practice of paying any high fees for education. From the antediluvian period up to the present, the people of this country, and even Muhammadans, have received all sorts of education free–whether high, middle, or low. Our philosophers, poets, authors, &c., always taught gratis, in the hope of reward in the next world.

The profession of teaching cannot be made profitable in India, even a century hence.

If this profession could be made lucrative, the public officials would not have been pestered with such numerous applicants for employment.

Ques. 58. What do you consider to be the maximum number of pupils that can be efficiently taught as a class by one instructor in the case of colleges and schools respectively ?

Ans. 58. I think that in schools from 25 to 30, and in colleges from 10 to 15, students can be efficiently taught by one instructor.

Ques. 59. In your opinion, should fees in colleges be paid by the term or by the month ?

Ans. 59. I think the tuition fees should be taken monthly, as has hitherto been the practice. If paid by terms, the payers would feel it hard to pay a lump sum.

Ques. 60. Does a strict interpretation of the principle of religious neutrality require the withdrawal of the Government from the direct management of colleges and schools ?

Ans. 60. It is by direct interference of Government that the principle of religious neutrality is observed in its strict sense. Should the Government withdraw, the effect would be contrary, and we are afraid the Missionaries would prevail.

Ques. 62. Is it desirable that promotions from class to class should depend, at any stage of school education, on the results of public examinations extending over the entire province? In what cases, if any, is it preferable that such promotions be left to the school authorities?

Ans. 62. I consider the present system in this respect satisfactory. In the case of English schools, from the third class upwards, the promotion should depend on the results of public examinations extending over the entire province; and in the lower classes they should be left to the school authorities. In the case of primary vernacular schools they should be entirely left to the Deputy Inspector and his Assistant, the Sub-Deputy Inspector.

Ques. 63. Are there any arrangements between the colleges and schools of your province to prevent boys who are expelled from one institution, or who leave it improperly, from being received into another? What are the arrangements which you would suggest?

Ans. 63. There is a sort of arrangement of this nature in zilla schools. I know of an order of the Director of Public Instruction of these provinces that no boy who has been at a school could be admitted into another without producing a certificate of good conduct from the former headmaster. But I am of opinion that there should be no such restriction, which is sure to be injurious and result in retarding the progress of many promising students. Sometimes a schoolmaster is whimsical and unduly harsh to his boys and expels them for slight offences. If such a hard restriction is imposed, many good boys would go without any schooling at all. When a master is unduly hard to a boy he finds no alternative but to change schools. I think boys and their parents or guardians should be left free to choose their own school.

Ques. 64. In the event of the Government withdrawing from the direct management of higher institutions generally, do you think it desirable that it should retain under direct management one college in each province as a model to other colleges; and if so, under what limitations or conditions ?

Ans. 64. I am strongly of opinion that the Government should not withdraw from the management of Government schools, and to have only one school in each province would be detrimental to the interests of the country.

Ques. 65. How far do you consider it necessary for European professors to be employed in colleges educating up to the B. A. standard ?

Ans. 65. I think the employment of European professors is urgently necessary in colleges educating up to the B. A. standard Able Natives are scarcely available to teach higher mathematics, physical science, English or Philosophy.

Ques. 66. Are European professors employed or likely to be employed in colleges under Native management ?

Ans. 66. I do not think any native except the Honourable Sayyid Ahmad Khan Bahadur, who has already done so, would undertake the management of a college, to say nothing of the employment of European professors. Even if the Natives were to take the management of colleges in their own hands, I do not think able European professors would ever like to serve under them, unless very highly paid.

Ques. 69. Can schools and colleges under Native management compete successfully with corresponding institutions under European management ?

Ans. 69. The schools under Native management can never be expected to compete with those under the management of Government. It is a serious mistake to think so.

Ques. 70. Are the conditions on which grants-in-aid are given in your province more onerous and complicated than necessary ?

Ans. 70. I do not think that the conditions of assigning grants are more complicated or unnecessary than the wants of the province require.

परिशिष्ट ३

Resolution of the Government of the North-Western Provinces & Oudh, No. 585/III–343c–68 dated April 18, 1900, published in the Government Gazette dated April 21, 1900.

Read—

(1) Memorials of various dates, praying for the introduction of the Nagri character in courts and public offices in the United Provinces.

(2) Memorials of various dates, objecting to the introduction of Hindi as the Court language.

(3) Report of the Board of Revenue, dated 16th August 1899, on the question of the use of the Nagri character in the Courts and public offices of these provinces.

(4) Letters No. 557 dated 2nd March 1900 from the Registrar, High Court of Judicature, North-Western Provinces, and No. 819, dated 31st March, from the Judicial Commissioner of Oudh, on the same subject.

Observations :—During his tenure of the office of Lieutenant-Governor of the North-Western Provinces and Chief Commissioner of Oudh, Sir Antony Mac Donnel has received numerous memorials, praying for the substitution of Nagri for Persian character in Courts and public offices of these Provinces. In 1898, in replying to a deputation of representatives of those who are interested in this movement, His Honour, while deprecating any hasty change in the existing practice of the Court, to which public as well as the officers of Government had become accustomed, admitted that some advantage might be anticipated from the more general use of the Nagri character in official documents. Since that time His Honour has had under his consideration the question of the extent to which the Nagri

character might, without inconvenience, be more fully recognised in official transactions than is at present the case.

2. Originally the language and character used in the Courts were Persian. The first step taken to introduce the use of the vernacular languages instead of Persian in these provinces was in 1837 when the Governor-General in Council authorised the change in Bengal and the North-Western Provinces in November 1837. Two years later, the Sadr Diwani Adalat ordered the "Hindustani" (sc. Urdu) language to be used in all Courts subordinate to it. These orders related to language, and not to the character used; but in 1868, to go no further, the Government was moved to substitute the Nagri character for Persian in Courts, and the question has since then from time to time been brought forward. In the neighbouring Central Provinces and Behar the Nagri character has almost completely replaced the Persian character in the Courts.

3. In these provinces, however, the question does not admit of the easy solution found for it in the Central Provinces or Behar; and for various strong reasons the Lt.-Governor and Chief Commissioner is not disposed to raise the question of language as distinct from that of character. His Honour does not contemplate altering the Court language of the provinces or forbidding the use of the Persian character. The question at issue here lies within far narrower limits. It is simply whether some such arrangement for the permissive use of the Nagri character cannot be made as will meet the convenience of the very large body of the people who are acquainted with that character and with no other. Statistics are not available to show the relative numbers of persons knowing or using exclusively the Hindi (i. e., Nagri or Kaithi) and exclusively the Persian characters, but the following figures from the Census Report of 1891 may be referred to as giving some idea of the proportion amongst the lower classes of literate people.

Enumerators using English	813
Enumerators using Urdu	54,244

Enumerators using Nagri	80,118
Enumerators using Kaithi	40,197

In the Gorakhpur, Benares, Allahabad and Agra Divisions, the Lt.-Governor understands that Hindi is by far the most prevalent character, while in the Meerut and Rohilkhand Divisions, it is very largely used.

4. The convenience of the large section of the population knowing Hindi will be served by the recognition of the Nagri character to a greater extent than is the case at present; and, after having the matter examined by the Board of Revenue and consulting the High Court and Judicial Commissioner, who have expressed their concurrence in the proposals set forth below, the Lt.-Governor has decided on the introduction of the following rules which will be applicable to all Criminal and Civil, as well as to the Rent and Revenue Courts.

(1) All persons may present their petitions or complaints either in the Nagri or in the Persian character as they shall desire.

(2) All summonses, proclamations, and the like in vernacular, issuing to the public from the Courts or from Revenue Officials, shall be in the Persian and the Nagri characters and the portion in the latter shall invariably be filled up as well as that in the former.

(3) No person shall be appointed, except in a purely English office, to any ministerial appointment henceforward unless he can read and write both the Nagri and Persian characters fluently.

By Order, etc.
J. O. Miller
Chief Secretary to Government, N. W. P.